वैदिक वाङ्मय में आदित्यों का आलोचनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु

प्रस्तुत शोध - प्रबन्ध
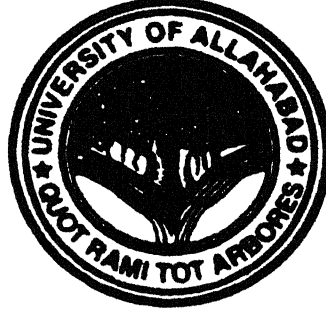
निर्देशक

डॉ० चन्द्र भूषण मिश्र

पूर्व आचार्य (संस्कृत विभाग)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

शोधकर्त्री

श्वेता मिश्र

एम०ए० (संस्कृत-वेद)
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

संस्कृत विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
2002

नामांकन सं० D-8721251

अनुक्रम

पुरोवाक्

वेद ईश्वर के नि श्वास हैं। वे विश्वज्ञान के प्राचीनतम कोश तथा भारतीय धर्म, संस्कृति तथा परम्परा के उत्स है। वे समग्र मानवजाति को सतत ऊर्जा तथा जीवन ज्योति सम्प्रदान करते है। वे पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) के मूल प्रतिपादक है। वे नित्य, शाश्वत्, अपौरूषेय, सार्वभौम तथा सार्वजनीन है। वे वैदिक ऋषियों की ऋतम्भरा प्रज्ञा से प्रत्यक्षीकृत नित्य ज्ञान है। इस प्रकार वेद निखिल विश्व के दिव्य ज्ञान के अपरिमित अनन्त एवं अक्षय शेवधि हैं।

वैदिक वाड्मय-वारिधि के अगाध गाम्भीर्य का अवगाहन कोई सहज कार्य नहीं है। इसके लिए निरन्तर गहन अध्ययन, चिन्तन तथा मनन की आवश्यकता होती है। यद्यपि इसमे असंख्य दुर्बोध तथा गम्भीरार्थसम्पन्न महिमाशाली ग्रन्थ विद्यमान हैं तथापि इसके प्रत्येक अंश का सजगता और तत्परता से सम्यक् विश्लेषण किया जाना सर्वथा समीचीन और श्रेयस्कर है। वैदिक मंत्रो के अनुशीलन एवं परिशीलन से अन्तर्मन नैसर्गिक रूप से यह स्वीकार करता है कि ऋषियों को दिव्य चक्षु प्राप्त था। उन्होंने अपने उन्हीं प्रातिभचक्षुओ से वेद मंत्रों का अपरोक्ष साक्षात्कार किया था।

वैदिक वाड्मय में एकेश्वरवाद, बहुदेववाद तथा सर्वेश्वरवाद का अद्वितीय समन्वय प्राप्त है। वेदो में द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय तथा पृथिवीस्थानीय 11-11 देव उल्लिखित हैं। प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक देवतावाद के क्षेत्र में गम्भीर अनुसन्धान कार्य किया है जिनका उपयोग किए बिना इस क्षेत्र में कोई भी अनुसन्धानकार्य सुगम नहीं है। वैदिक देवों में इन्द्र एवं अग्नि आदि के पश्चात् आदित्यो का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऋग्वेद मे वरुण, मित्र, अर्यमा,

सविता, भग तथा दक्ष आदित्यो मे परिगणित हैं। परवर्ती वैदिक वाङ्मय में पूषा, त्वष्टा, धाता, विश्वानर और विष्णु का उल्लेख है। इस प्रकार इन द्वादश आदित्यों का अध्ययन ही इस शोध प्रबन्ध का अभीष्ट है।

बाल्यकाल से ही तार्किक बुद्धि के कारण मैं प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सन्तुष्ट होती थी। देवयजनादि मे मुझे सर्वत्र देवभाव ही दृष्टिगत होता था। घर के आध्यात्मिक वातावरण में प्रतिदिन सूर्यदेव की समाराधना के कारण मैं आदित्य के प्रति आकृष्ट हुई। मेरे लिए उनका प्रतिदिन प्रातः उदयाचल पर आरूढ़ होना और सायंकाल अस्ताचल पर स्थित होना उनके देवत्व का प्रमाण था। अन्य देवो के सन्दर्भ में सन्देह की सम्भावना हो सकती है किन्तु भुवनभास्कर भगवान् आदित्य की सत्ता में लेशमात्र संशय का अवकाश नहीं है। वे निश्चय ही जगत् के प्रभाभूत हैं। सूर्योपासना करते-करते बाल्यकाल से ही सूर्य के प्रति मेरी जिज्ञासा सम्वर्धित हुई। वेद के साथ संस्कृत में परास्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने के अनन्तर मैंने गुरुवर्य श्री मिश्र जी से अनुसधान कार्य करने की इच्छा अभिव्यक्त की। भगवान् सूर्यदेव की अनुकम्पा तथा पूज्य गुरुदेव के आशीर्वचन से मुझे "वैदिक वाङ्मय में आदित्यों के आलोचनात्मक अध्ययन" विषय पर अनुसन्धान करने की अनुमति प्राप्त हो गयी।

प्रकृत शोध प्रबन्ध 5 अध्यायों में विभाजित है। प्रथम अध्याय के अन्तर्गत 'वैदिक वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय' प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में 'वैदिक देववाद' का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। तृतीय अध्याय में 'आदित्यगण की संख्या एवं उनके पृथक् कार्य' का तुलनात्मक विवरण उपस्थित किया गया है। चतुर्थ अध्याय में 'आदित्यगण और वरुण का विश्लेषणात्मक विवेचन है। पञ्चम अध्याय में "आदित्यगण और मित्र, मित्रावरुण तथा पूषा" के सम्बन्धो का शोधात्मक अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के निबन्धन मे प्राप्त सहयोग के लिए मैं मनीषियों, विद्वानो एवं गुरुजनों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर हार्दिक सन्तोष एवं सुख का अनुभव करती हूँ। सर्वप्रथम मै अपने गुरुवर्य एव शोधप्रबन्ध के निर्देशक पूज्यपाद डॉ0 चन्द्रभूषण जी मिश्र के चरणो मे कोटिश प्रणामाञ्जलि निवेदित करती हूँ जिन्होने मुझे अपनी मानसपुत्री के रूप मे अपना अपरिमित समय एवं सान्निध्य प्रदान किया।

मैं अपने द्वितीय गुरुदेव श्री राजा राम झुले पूर्व प्राचार्य वेद विद्यालय अलोपीबाग, इलाहाबाद के श्री चरणो में नतमस्तक हूँ जिनकी कृपा और आशीर्वाद से मेरा यह शोधप्रबन्ध पूर्णता को प्राप्त हो सका। वेद विद्यालय के ही आचार्यप्रवर श्री चिरञ्जीव शर्मा तथा श्री शिव प्रसाद गुरु जी को शतशः नमन करती हूँ। जिन्होने सदैव मुझे अपने वरदहस्त से कृतार्थ किया है।

मै श्री हरिराम संस्कृत महाविद्यालय इलाहाबाद के सेवानिवृत्त प्राचार्य श्रीयुत राम कृष्ण त्रिपाठी को भूयोभूय· नमन करती हूँ जिनके प्रसाद से मैं अनुसन्धान कार्य मे निपुणता को अधिगत कर सकी।

मै अपनी विभागाध्यक्षा डॉ0 मृदुला त्रिपाठी, स्व0 डॉ0 रुद्रकान्त मिश्र, डॉ0 हरिशकर त्रिपाठी, डॉ0 सुचित्रा मित्रा, डॉ0 राज लक्ष्मी वर्मा, डॉ0 रामकिशोर शास्त्री, डॉ0 शकर दयाल द्विवेदी, डॉ0 हरिदत्त शर्मा, डॉ0 उमाकान्त यादव, डॉ0 कौशल किशोर श्रीवास्तव, डॉ0 रामसेवक द्विवेदी, डॉ0 रञ्जना जी तथा डॉ0 मञ्जुला जायसवाल को प्रणामाञ्जलि समर्पित करती हूँ जिनके प्रेरणाप्रद शुभाशीर्वचनो से मैं इस कार्य में सफलता प्राप्त कर सकी।

इस हर्षप्रकर्ष के अवसर पर मैं सर्वप्रथम अपनी मातामही श्रीमती गायत्री देवी मिश्र को कोटिश· नमन करती हूँ जिन्होंने मुझे बाल्यावस्था से ही विषम परिस्थितियों में भी निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढते रहने की शिक्षा प्रदान की। मैं अपने मातामह स्वर्गीय बलराम मिश्र,

पितामह स्व0 राम सुमेर मिश्र, पितृदेव श्री केशव चन्द्र मिश्र एवं वात्सल्य मूर्ति माता श्रीमती ज्ञानेश्वरी मिश्र के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनकी प्रेरणा, प्रोत्साहन एव आशीर्वाद की प्रत्यक्ष परिणति के रूप में यह शोध प्रबन्ध प्रस्तुत है।

इसी सन्दर्भ मै अपने सर्वस्व (पतिदेव) श्री दशरथ मिश्र जी, (ज्यूडिशल् मजिस्ट्रेट) के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होनें इस कार्य को पूर्ण करने मे मेरी सर्वतोभावेन सहायता की। इस शोधप्रबन्ध के टंकणादि मे विशेष सहयोगार्थ मै श्री राजकुमार जी पाण्डेय की कृतज्ञता हृदय से अगीकार करती हूँ।

आशा है गुणग्राही विद्वद्गण मेरे इस शोधप्रबन्ध को सहृदयता से स्वीकार करेगे और मुझे अपने शुभाशीर्वचनों से अनुगृहीत करेगे।

भारतीवैभवं लोके, महत्पुण्येन प्राप्यते।
तत्तु देवप्रसादेन, प्राप्तुमीहासि मे खलु।।
मन्दयापि सुयत्नेन चिन्तनं यन्मयाकृतम्।
आदित्यानां प्रसादातच्छोधबन्धो निबध्यते।।
त्रुटयः सम्भवास्तत्र, विदग्धैर्या विलोक्यन्ते।
मर्षणीयाः भविष्यन्ति, सुजनैरिति कामये।।

कार्तिक पूर्णिमा

2059 वि0सवत्

शोधकर्त्री

श्वेता मिश्र

एम0ए0 संस्कृत (वेद)

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

भूमिका

वेद की व्युत्पत्ति दो प्रकार से शास्त्रसम्मत है .- (1) विद् ज्ञाने + घञ् = वेद. वेद शब्द अन्तोदात्त है इसका तात्पर्य आध्यात्मिक अथवा धार्मिक ज्ञान से सम्बद्ध है। (2) विद् ज्ञाने लाभे च + असुन् = वेद.। वेद क्या है? वेद का क्या महत्त्व है? वेद कितने है? यह वेद शब्द धनवाचक अथवा ज्ञानवाचक तथा आद्युदात्त है। वेद ज्ञान का प्राचीनतम कोश है। वेद अद्वैतवाद का महनीय उपदेष्टा है। वेद विश्वमानव का कल्याणधायक ग्रन्थ है। वेद व्यवहार का उपदेष्टा है। वेद भारतीय वाड्मय की अमूल्य निधि है। धर्म प्राण देश के लिए तो वेद का ज्ञान सर्वथा अपरिहार्य है। ऋक्, यजुष्, साम, वेदत्रयी है। अथर्ववेद चौथा वेद है। वैदिक पद्य के ऋक्, यजुष् एवं साम रूप होने के कारण चार वेद होने पर भी वेदत्रयी कहे जाने की परम्परा है।

वैदिक वाङ्मय मे आरम्भ से लेकर आज तक हुए कार्यों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत है। राजा राम मोहन राय द्वारा स्थापित 'ब्राह्म समाज' और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित 'आर्य समाज' ने वैदिक वाड्मय के क्षेत्र में सक्रिय कार्य किया गया है। सायण ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का परम्परागत तौर पर भाष्य किया है। पाश्चात्य विद्वानों के वेदार्थ ज्ञान का आधार सायण का भाष्य ही है। सायण ने 5 वैदिक संहिताओं, 11 ब्राह्मणग्रन्थों तथा 2 आरण्यको पर पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा है। सायण के अतिरिक्त भारतीय भाष्यकारों में वेंकटमाधव, स्वामी दयानन्द, पं0 आर्यमुनि, विश्वबन्धु, सातवलेकर के नाम उल्लेखनीय हैं।

भारतीय भाषाओ मे सम्पूर्ण ऋग्वेद अर्थ सहित प्रकाशित करने वाले विद्वानो मे अभिपूज्य हैं बॅगला भाषा मे अनुवाद करने वाले श्री रमेश चन्द्र दत्त, मराठी भाषा में अनुवाद करने वाले श्री सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, हिन्दी में अनुवाद करने वाले श्री जयदेव विद्यालंकार और श्री रामगोविन्द त्रिवेदी मराठी भाषा में ऋग्वेद का सम्पूर्ण अनुवाद आठ भागो मे करने वाले श्री कोल्हट और पटवर्धन, ऋग्वेद का सुबोध भाष्य करने वाले सातवलेकर महोदय।

ऋग्वेद से सम्बन्धित ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऐतरेय आरण्यक पर सायण महोदय द्वारा भाष्य किया गया है इन्होनें 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका' की रचना भी की है। सत्यव्रत सामश्रमी महोदय द्वारा ऐतरेय ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक सायण भाष्य के साथ प्रस्तुत किया गया है। सामश्रमी जी ने 'ऐतरेय लोचन' ग्रन्थ का प्रणयन भी किया है। श्री मंगलदेव शास्त्री ने ऋग्वेद - प्रातिशाख्य सम्पादित किया है और अग्रेजी मे भूमिका दी है। ऋग्वेद से सम्बन्धित कार्य करने वालो मे श्री गोबिन्द और अमृत, श्री राजेन्द्र लाल मित्र, श्री अविनाश चन्द्र दास, श्री महेश चन्द्र राय, श्री नरदेव शास्त्री देवतीर्थ, श्री कपालि शास्त्री, स्वामी दयानन्द, स्वामी विश्वेश्वरानन्द, श्री एन0एन0 लॉ और श्री राम शर्मा के नाम समादरणीय हैं।

यजुर्वेद-शुक्ल और कृष्णयजुर्वेद पर श्री महीधर और उव्वट श्री सायण, श्री दुर्गादत्त लाहिडी, श्री सातवलेकर, स्वामी दयानन्द, श्री जयदेव विद्यालंकार, श्री राम शर्मा, श्री श्रीधरपाठक, श्री सत्यव्रत सामश्रमी तथा पण्डित ज्वाला प्रसाद मिश्र के कृतकार्यों का प्रसन्नतापूर्वक उल्लेख करना यहाँ समीचीन होगा।

यजुर्वेद-शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद पर भाष्य करने वालों मे आचार्य सायण, श्री भट्टभास्कर, श्री सत्यव्रत सामश्रमी, श्री गगा प्रसाद उपाध्याय, आचार्य उव्वट, कर्क, जयराम, गदाधर और विश्वनाथ की भूरिशः प्रशंसा करना अत्युपयुक्त होगा।

सामवेद पर महत्त्वपूर्ण भाष्यकारो मे आचार्य सायण, सत्यव्रत सामश्रमी, श्री पुष्पर्षि लक्ष्मण शास्त्री द्रविड़, श्री आनन्द चन्द्र तथा श्री चन्द्रकान्त तर्कालंकार के नाम आदरपूर्वक गणनीय हैं। सामवेद संहिता पर आचार्य सायण ने सम्पूर्ण भाष्य किया है। श्री सातवलेकर महोदय द्वारा सामवेद संहिता की भूमिका आदि सहित शुद्ध संस्करण निकाला गया है। सामवेद संहिता का अर्थ स्पष्टीकरण के साथ श्री सातवलेकर द्वारा प्रकाशित किया गया है। श्री दुर्गादत्त लाहिड़ी द्वारा सायण भाष्य सहित सामवेद प्रकाशित किया गया है। श्री सत्यव्रत सामश्रमी ने सामवेद की सहिताओं का बॅगला मे अनुवाद किया है तो श्री तुलसीराम स्वामी ने स्वामी दयानन्द की पद्धति पर हिन्दी भाष्य। श्री जयदेव विद्यालकार और श्री राम शर्मा आचार्य द्वारा हिन्दी-भाष्य लिखा गया है। श्री वीरेन्द्र शास्त्री महोदय ने हिन्दी अर्थ सहित भाष्य प्रस्तुत किया है।

अथर्ववेद संहिता- पर श्री दुर्गादत्त लाहिडी द्वारा सायण भाष्य सहित 5 भागों में भाष्य किया गया है। श्री शंकर पाण्डुरग पण्डित द्वारा सायण भाष्य सहित संस्करण निकाला गया है। श्री सातवलेकर ने अथर्ववेद संहिता प्रकाशित की है। 'अथर्ववेद का सुबोध भाष्य' भी इनके द्वारा प्रकाशित किया गया है। मंत्रार्थ के अतिरिक्त विशद हिन्दी-कारका भी इन्होनें लिखी। वस्तुत· यह अथर्ववेद का सर्वोत्तम व्याख्या ग्रन्थ है। सातवलेकर के साथ श्री क्षेमकरण त्रिवेदी,

श्री जयदेव विद्यालंकार, श्री श्रीराम शर्मा, श्री विश्वबन्धु और डॉ0 रघुवीर के नाम भी समादरणीय हैं।

श्री विश्वबन्धु द्वारा अथर्ववेदीय प्रातिशाख्य और अथर्ववेदीय वृहत्सर्वानुक्रमणी, श्री भगवद्दत्त द्वारा अथर्ववेदीय पंचपटालिका और माण्डूकी शिक्षा, श्री क्षेमकरण त्रिवेदी द्वारा गोपथ ब्राह्मण (हिन्दी-अनुवाद) एवं श्री राजेन्द्र लाल मित्र द्वारा - गोपथ ब्राह्मण पर अपने अनवद्य प्रयास द्वारा लेखन कर वैदिक साहित्य को अक्षुण्ण बनाने मे योगदान किया है।

श्री लक्ष्मण स्वरूप, श्री चन्द्रमणि विद्यालंकार, श्री चिंतामणि विनायक वैद्य, श्री सूर्यकान्त, लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक, श्री हंसराज, श्री सम्पूर्णानन्द, श्री वासुदेव शरण अग्रवाल, श्री बलदेव उपाध्याय, श्री मजूमदार, स्वामी हरिप्रसाद, श्री वाचस्पति गैरोला, डॉ0 कपिलदेव द्विवेदी, श्री दाण्डेकर, श्री करमवलेकर और श्री राम कुमार राय के नाम भी वैदिक साहित्य के संरक्षको मे आदरपूर्वक लिये जाने योग्य हैं।

पाश्चात्य विद्वानों में वैदिक वाड्मय की सुरक्षा करने वाले ऋग्वेद में फ्रेडरिक रोजन, मैक्समूलर, आउफ्रेख्त, विल्सन, ग्रासमान, लुडविग, ग्रिफिथ, प्रो0 ओल्डेनवर्ग, मैक्डॉनेल, गेल्डनर, पीटर्सन, रूडाल्फ रॉथ, प्रो0 हाउग, स्टेन्सलर और हिलब्राण्ट आदि के नाम समादरणीय हैं। बेबर, क्लैण्ड, ईग्लिंग ने यजुर्वेदीय ब्राह्मणों पर अपने शोधकार्य किये।

यजुर्वेद से सम्बन्धित संहिता आदि पर सराहनीय कार्य करने वालो में बेबर, श्रेडर, कैलेण्ड, डॉ0 कीथ, विण्टरनित्स, गार्वे, क्नाडडर के नाम विशेष उल्लेखनीय है।

सामवेद पर स्टेवेन्सन, बेन्फे, कैलेण्ड, ग्रिफिथ बर्नेल, एर्टल, स्टेनकोनो, गास्ट्रा आदि ने सराहनीय कार्य कर वैदिक वाड्मय की रक्षा करने वालों मे अपना नाम महत्त्वपूर्ण बना दिया है।

अथर्ववेद संहिता आदि पर रॉथ और हिटनी, ब्लूमफील्ड और गार्बे, कैलेण्ड, ग्रिफिथ, लैनमैन, गास्ट्रा आदि पाश्चात्य विद्वानों ने शोधकार्य किये। कोश ग्रन्थ रॉथ और बॉटलिंक, पीटर्सबर्ग, ग्रासमान, मैक्डॉनेल और कीथ लिखने वालों मे विशेष उल्लेखनीय है। व्याकरण पर हिटनी, मैक्डॉनेल, वाकरनागेल ने सराहनीय कार्य किया है। बेबर और आर्नाल्ड महोदय के नाम वैदिक छन्दो पर लिखने वालो में श्रेष्ठ माने जाते है। मैक्समूलर, हिलेब्राण्ट, मैक्डॉनेल, कीथ ने वैदिक देवता विज्ञान पर महत्त्वपूर्ण शोधकार्य कर वैदिक ग्रन्थो के संरक्षण में सराहनीय योगदान किया है। ब्लूमफील्ड ने 'The Relision of the Veds' विषय पर अनूठा प्रबन्ध लेखन कर उल्लेखनीय भूमिका निभाई है। क्लेटन ने 'Rigveda and Vedic Religion' विषय पर अनुपम ग्रन्थ लिखने का गौरव प्राप्त किया है।

वैदिक वाड्मय को अपनी विशद लेखन परम्परा से और अधिक समृद्ध बनाने वाले भारतीय विद्वानो और पाश्चात्य विद्वानों के अथक प्रयास के फलस्वरूप वैदिक काल की सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक अवस्था का जो बोध होता है उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुॅचते है कि वस्तुत. वैदिक काल का साहित्य अतीव समृद्ध था। वैदिक काल मे स्त्रियों की दशा अतिसम्मानजनक थी। धार्मिक क्षेत्र में दृष्टिगत करने पर बहुदेववाद का परिज्ञान होता है। बहुदेववाद के साथ ही साथ एकदेववाद की व्यवस्था भी उत्तर वैदिक काल में

मिलती है। ऋग्वेद मे देवों के माता-पिता की भी कल्पना की गयी है। द्यावापृथिवी, अदिति आदि को देवों के माता-पिता के रूप में उल्लिखित किया गया है। अदिति से अदित्यगण आविर्भूत हुए। आदित्य द्वादश माने जाते है। वैदिक देशों का वर्गीकरण उनकी सापेक्षिक महत्ता के आधार पर किया जा सकता है। एकल देवता, युगल देवता और गणदेवता के रूप में इनके प्रतिष्ठित होने के प्रमाण वैदिक साहित्य में उपलब्ध है। ब्लूमफील्ड महोदय ने तो देवों को 5 भागो मे विभक्त किया है :-

(1) प्रागैतिहासिक काल के देव - द्यौ, वरुण, मित्र, अर्यमा।

(2) अन्य पारदर्शीय या अर्ध स्पष्ट देवता - विष्णु।

(3) पारदर्शीय स्पष्ट देव - अग्नि, उषस्, वायु, सूर्य।

(4) अपारदर्शीय अथवा अस्पष्ट देव - इन्द्र, वरुण, अश्विन।

(5) अमूर्त भावात्मक एवं प्रतीकात्मक देव - प्रजापति, वृहस्पति, विश्वकर्मा, काल, श्रद्धा, काम या निऋति आदि।

कीथ महोदय के चार भाग इस प्रकार हैं -

(क) द्युस्थानीय एवं, अन्तरिक तथा पृथ्वी स्थानीय देव।

(ख) लघु प्रकृत देव।

(ग) भाव देव।

(घ) विभिन्न देव प्राणिवर्ग।

भारतीय विद्वन्मण्डल द्वारा उल्लिखित देवपरम्परा दिव् धातु से निष्पन्न देवशब्द को आधार मानता है। इसी आधार पर आकाश से सम्बन्धित दिव्य व्यक्तियो मे आदित्यों का गण विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान पर रखा जाता है। अदिति के पुत्र होने के कारण वे आदित्य कहे जाते है।

श्रीमद्भागवत महापुराण में -

'विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाथ सविता भगः।

धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्र उरुक्रम.'।। 6/6/39।।

किये गये उल्लेख से आदित्य गणों के कुछ नाम स्वत. स्पष्ट हो जाते हैं।

महर्षि पाणिनि के 'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तर पदाण्ण्यः'

अष्टाध्यायी 4/1/85 में कृत व्युत्पत्ति का अपना विशेष महत्त्व है। विष्णु पुराण और मत्स्य पुराण में तो "मारीचात् कश्यपाज्जाता............आदित्या द्वादशस्मृता" 1/15/131-133 तथा "इष्टो धाता भगस्त्वष्टा..............पुत्रानदितिरुत्तमान्।" 6/4/5 मे क्रमश. आदित्यगणों के माता-पिता का वर्णन वस्तुतः उनकी उत्पत्ति का स्पष्ट दिशानिर्देश दे देता है।

इस तारतम्य मे .-

"अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता सपुत्र.।

विश्वे देवा अदिति· पञ्चजनः अदिति र्जातमदितिर्जनित्वम्।।"

विश्वेदेवा सूक्त के इस मंत्र से भी आदित्यों के जननी-जनक का बोध होता है। (ऋग्वेद 1/89/10)

निरुक्तकार यास्क महोदय ने तो "अदितिर्द्यौदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता सपुत्र." ।। आदि की चौथे अध्याय के चतुर्थ पाठ मे व्याख्या की है।

वैदिक वाड्मय मे देवो को लेकर एकदेववाद (Monotheism), बहुदेववाद (Polytheism), सर्वदेववाद (Pantheism) की भी चर्चा है। ऋग्वेद के गम्भीर अध्ययन से हमे यह ज्ञान होता है कि एक ही ब्रह्म की विभिन्न शक्तियों के नाम विभिन्न देवों के रूप में दिये गये है। ईश्वर का ऐक्य सिद्धान्त सर्वप्रथम ऋग्वेद में दृष्टिगोचर हुआ, उपनिषदों मे अंकुरित होकर शंकराचार्य द्वारा पल्लवित हुआ। कहा गया है-

'वह (परमेश्वर) एक ही है। भले ही विप्रों ने उसे इन्द्र, मित्र, सूर्य, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, यम, मातरिश्वा (वायु) आदि नामों से ही पुकारा है।'

'इद मित्रं वरुणअग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णोगरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यमं मातरिश्वानमाहु।' ऋग्वेद संहिता (2-3-22-46)।।

वस्तुतः इस शोध में हमें आदित्यगण - यथा- 'सवितृ' (सूर्य) रात्रि के दोनों ही ओर (उभयतः) व्याप्त करता है। फिर भी यहॉ इसके अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थ नहीं हो सकता कि रात्रि (3-44[4]) मे रात्रि समय सूर्य के पथ के सम्बन्ध में यह दृष्टिकोण व्यक्त किया गया है कि

यह प्रकाशमय ग्रह रात्रि मे ऊर्ध्वमुख होकर चमकता है, जब कि दिन में चमकने के लिए यह घूमकर अधोमुख हो जाता है। इसी प्रकार की धारणा ऋग्वेद के इन वक्तव्यो का औचित्य सिद्ध कर सकती है कि 'सूर्य के अश्व जिस प्रकाश को खींचते हैं वह अभी उज्ज्वल और कभी अन्धकारमय (1,115[5]) होता है अथवा पूर्व दिशा की ओर सूर्य के साथ जो 'रजस्' रहता है वह उस प्रकाश से भिन्न होता है जिसके साथ सूर्य का उदय होता है (10,37-3)। पर्जन्य आदित्य (सूर्य) के साथ पूषा, त्वष्टा, विवस्वान्, भग, धाता, इन्द्र, वरुण, मित्र, विष्णु, अंश, अर्यया-आदि द्वादश आदित्यो का अध्ययन ही अभीष्ट है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध मे इस तथ्य विशेष ध्यान दिया गया है, कि चयनित दुर्बोध विषय को अधुनातन कलेवर मे इस प्रकार अभिव्यक्ति प्रदान की जाय जिससे सुधी पाठक गण को विषय वस्तु-समझने में पर्याप्त सुकरता हो। इस आयास मे मैं किस सीमा तक सफल हुई हूँ इसका निर्धारण करने मे विद्वज्जन ही सक्षम है।

■

अध्याय - प्रथम

'वैदिक वाङ्मय का सामान्य परिचय'

ऋग्वेद - शाखाएँ, वर्ण्यविषय, वैशिष्ट्य, देव।

यजुर्वेद - शाखाएँ, वर्ण्यविषय

सामवेद - शाखाएँ, वर्ण्यविषय

अथर्ववेद - शाखाएँ, वर्ण्यविषय, वैशिष्ट्य, संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्

वेदाङ्ग - शिक्षा, व्याकरण, छन्द, नैरुक्त, ज्योतिष और कल्प।

अध्याय - प्रथम

'वैदिक वाङ्मय का सामान्य परिचय'

वैदिक वाङ्मय विश्व का अनुपमेय वाङ्मय है। वेद-विज्ञान गूढ़तम रहस्यों का विज्ञान है। वैदिक वाङ्मय भारतीय सभ्यता एवं सस्कृति की अमूल्य निधि है। पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक साहित्य का गहन अध्ययन किया। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद ज्ञान-विज्ञान-निधान हैं। आचार्य सायण ने वेद शब्द की व्याख्या इस प्रकार प्रस्तुत की है-

'जो ग्रन्थ इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट निवारण का अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अच्छा क्या है और बुरा क्या है? यह वेद ही बताता है।'

वेद ज्ञान का पर्याय है, धर्म का मूल है।[1] धर्म के मूल तत्त्वों को जानने के एकमात्र साधन वेद हैं। वेदों में प्रतिपादित धर्म और ज्ञान शब्द-प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष और अनुमान से जिन बातों का ज्ञान नहीं हो सकता है यथा- धर्माधर्म, पुण्य-पाप, मोक्ष, आत्मा का स्वरूप, पुनर्जन्म आदि, इन सभी का परिज्ञान वेद ही कराते हैं। ऋषियो को मन्त्रद्रष्टा कहा गया है। विश्वामित्र, वशिष्ठ आदि मन्त्रों के 'ऋषि' कहलाते हैं, कर्ता नहीं। इसलिए इन ऋषियों को मन्त्रों का द्रष्टा मानना ही उपयुक्त है कर्त्ता होना नहीं।[2]

वेद अपौरुषेय है, वह स्वतः आविर्भूत होने वाला नित्य पदार्थ है। उसकी उत्पत्ति में किसी भी पुरुष का परमेश्वर का भी उद्योग क्रियाशील नहीं है। अनेक विद्वानों ने वेद में

---

[1] वेदोऽखिलो धर्ममूलम् (मनुस्मृति-2-6)

[2] ऋषिर्मन्त्र द्रष्टा। गत्यर्थत्वाद् ऋषेर्ज्ञानार्थत्वाद् मन्त्र दृष्टवन्त ऋषम । श्वेततनवासिरचित वृत्ति उणादिसूम 4/129

अनित्य पदार्थों के दर्शन तथा श्रवण से उनके पौरुषेय का सिद्धान्त माना है। मीमांसकों के मत मे वेद अपौरुषेय ही हैं क्योकि ऋषि मंत्रो के द्रष्टा रहे हैं अर्थात् वेद के किसी के कर्ता न होने से वेद अपौरुषेय सिद्ध होते है।

वैदिक वाङ्मय वह आध्यात्मिक मानसरोवर है जहॉ से ज्ञान की निर्मल मन्दाकिनी विश्व के दार्शनिकों के अन्तःकरण को आप्लावित करती हुई आज भी अजस्र रूप से प्रवाहित हो रही है। आत्मा का स्वरूप वर्णन वेदों में उपलब्ध है। उदाहरणार्थ यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से व्याप्त है इस संसार में जो कुछ भी है उसमें ईश्वर निवास करता है।[1] ईश्वर एक है, दूसरा नहीं, तीसरा नहीं चौथा नहीं।[2]

वेद दार्शनिक विचारों की खान है। तत्त्व ज्ञान की मीमांसा पर आधारित विषय विवेचन इसमें प्राप्त होता है जैसे - सृष्टि की उत्पत्ति,[3] पौर्णमासी वर्णन[4] आदि।

वेद मे आयुर्वेद विषयक सैकड़ो ग्रथ हैं जिनमे विविध रोगों की चिकित्सा वर्णित है। अथर्ववेद को भेषज अर्थात् भिषग्वेद के नाम से अभिहित किया जाता है। चरक एवं सुश्रुत में आयुर्वेद को अथर्ववेद का उपांग बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आयुर्वेद का उद्गम स्रोत अथर्ववेद ही है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद और यजुर्वेद मे भी आयुर्वेद विषयक पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। वेद में राजा के चुने जाने तथा उनके कर्त्तव्यों के विवरण अथर्ववेद और यजुर्वेद में मिलते हैं।[5]

---

[1] 'ईशावास्यमिद सर्व यत् किं च जगत्या जगत्। (यजु0 40 1)।

[2] 'स एष एक एकवृदेक एव0, द्वितीयो, न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। (अथ0 13 4.12,16)।

[3] 'तद्यथा-सृष्टिरुत्पत्ति. (ऋग्वेद 10 129 130)।

[4] तद्यथा- पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीत्0 (अथ0 7.80 4)।

[5] राज्ञो वरण तत्कर्तव्यादिक चात्र वर्ण्यते। (अथ0 19 24., यजु0 10 2.4)।

वेद भारतीय जीवन के रग-रग में रचे-बसे हैं। देव जिनकी उपासना की जाती है, हमारे सस्कारो की दशा बताने वाली पद्धति इन सबका, उद्गम स्थल वेद ही है। वेदो का महत्त्व निर्विवाद है। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' से हम वेदों के महत्त्व का निगरण कर सकते है। मानव जाति का पुरातन इतिहास, रहन-सहन, आचार-व्यवहार की जानकारी के लिए वेद हमारे परम आदरणीय स्रोत हैं। वेद मानव जाति के विचारो के लिये बद्ध करने वाले ग्रन्थों में सर्वाधिक प्राचीन हैं। यदि वेद का साङ्गोपाङ्ग, अध्ययन किया जाय तो कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जिसका वर्णन इस आकर ग्रन्थ में न किया गया हो।

भारतीय मनीषा वेद को परमात्मा का निःश्वास मानती है। ऋषियों ने अपनी निरन्तर तपोसाधना के चरम परिणति के रूप में वेद मंत्रों का दर्शन किया। वैदिक ऋचाओं के अध्ययन से हमें तत्कालीन सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, स्थितियों का बोध होता है तथा इनके ज्ञान से मानवीय आचार-विचार, रहन-सहन की महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है।

वेद के दो विभाग सर्वमान्य हैं- मन्त्र और ब्राह्मण। वस्तुतः वैदिक वाङ्मय को चार भागों में बॉटा जाता है- (1) वेदों की संहिताएं (2) ब्राह्मणग्रन्थ (3) आरण्यक ग्रन्थ (4) उपनिषद्। प्रत्येक वेद का इसी प्रकार विभाजन किया गया है। संहिता भाग में मंत्रों का शुद्ध रूप रहता है जो देवाराधन में पढ़ा जाता है। विभिन्न यज्ञों के सम्पादन के समय में मंत्रों का प्रयोग श्रेयस्कर होता है। मंत्रों की विधिभाग की व्याख्या करने वाला अंश ब्राह्मण कहलाता है। वानप्रस्थ आश्रम मे रहते हुए मनुष्य को जैसा आचरण करना चाहिए इसकी शिक्षा हमें आरण्यक ग्रन्थों से मिलती है। उपनिषदों में आध्यात्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों के विशद विवेचन उपलब्ध होते हैं।

ऋग्वेद मे विविध देवों की स्तुति मिलती है। ऋच् (ऋक्) का शाब्दिक अर्थ है- स्तुतिपरक ग्रन्थ। ऋचाओं के द्वारा देवताओं की स्तुति का गान किया जाता है, ऐसी ऋचाओं के एक साथ संकलन होने के कारण इसका नाम 'ऋग्वेद संहिता' रखा गया। संहिता शब्द का तात्पर्य है- संग्रह अथवा सकलन।

ऋक् आदि शब्दो की आध्यात्मिक और दार्शनिक व्याख्या ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। इनमें ब्रह्म, वाणी, प्राण, अमृत और भूलोक को ऋक् या ऋग्वेद कहा गया है। [1] यजुर्वेद मे वाक् तत्त्व (97 ब्राह्मण) का ऋक् (ऋग्वेद), मनस्तत्व को यजुष् (यजुर्वेद) और प्राणतत्त्व को (सामन्) सामवेद कहा गया। इन तीनों तत्त्वों के समन्वय से ब्रह्मतत्व की दार्शनिक व्याख्या की जाती है। [2]

ऋग्वेद की केवल एक शाखा की संहिता उपलब्ध होती है। ऋग्वेद संहिता विभिन्न दृष्टिकोणों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह विश्वसाहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ है। भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानो के निरन्तर कृत तपोसाधना से वेद ब्रह्म की उपासना हुई है फलतः प्राचीन संस्कृति का इतिहास जाना जा सका है। यह चारों वेदों मे सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है। पूरे ऋग्वेद के 8 समान भाग हैं इन्हें अष्टक कहा जाता है। प्रत्येक अष्टक में 4 अध्याय हैं अतः पूरे ऋग्वेद में 8 X 8 = 64 अध्याय है। ऋग्वेद में 8 अष्टक, 64 अध्याय, 2024 वर्ग और 10,552 मत्र हैं।

---

[1] ब्रह्म वा ऋक् (कौषी0 7 10), बागित्यृक (जैमि0 उप ब्रा0 (1.9 2), प्राणो वा ऋक् (शत0 ब्रा0 7.5 .25 12) अमृत का ऋक् (कौषी0 7 10) , अय (भू) लोक (ऋक् षड्विश ब्रा0 1 5)।

[2] ऋच वाच प्रपद्ये मनो यजु प्रपद्ये साम प्राण प्रपद्ये (यजु0 36.1)।

ऋग्वेद की शाखाएँ

महर्षि पतञ्जलि ने ऋग्वेद की 21 शाखाओं का उल्लेख किया है। इनमे 5 शाखाओं का मुख्यतः नाम या साहित्य उपलब्ध है। शेष के नाम भी संदिग्ध है। शाखाएॅ :- (1) शाकल (2) वाष्कल (3) आश्वलायन (4) शांखायन (5) माण्डूकायन।

शाकल शाखा की ऋग्वेद संहिता प्रचलित है किन्तु वाष्कल शाखा की संहिता यत्र कुत्रापि प्राप्त नहीं होती। आश्वलायन शाखा के श्रौत और गृह्म सूत्र ही प्राप्त होते हैं। शाखायन शाखा के ब्राह्मण तथा आरण्यक उपलब्ध है। माण्डूकायन का केवल नाममात्र है।

ऋग्वेद का वर्ण्य विषय

देवस्तुति ऋग्वेद का मुख्य वर्ण्य विषय है- तथापि अन्य विषयो का भी समावेश यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। मण्डल क्रमवार वर्ण्यविषय अधोलिखित हैं :-

1. प्रथम मण्डल- इस मण्डल में इन्द्र, अग्नि, मरुत, अश्विनौ की हैं स्तुति है। इन्द्र, वायु, मित्रावरुणौ, विश्वेदवाः, सविता, पूषन्, आपः, वरुण, उषस्, रूद्र, सोम, सूर्य, विष्णु आदि देवों से सम्बन्धित मंत्र विशेष रूप से प्रदत्त हैं।
2. द्वितीय मण्डल- इस मण्डल में अग्नि, इन्द्र, वरुण, बृहस्पति, विश्वेदेवाः, मरुत्, राका (पूर्णिमा), सिनीवाली (अमावस्या), सरस्वती आदि से सम्बन्धित मंत्र प्राप्त होते है।
3. तृतीय मण्डल- इस मण्डल में अग्नि, धूप, इन्द्राग्नी, विश्वामित्र, नदी-संवाद आदि का वर्णन मिलता है।

4. चतुर्थ मण्डल- इस मण्डल मे अग्नि, रुद्र, श्येन, द्यावापृथिवी, वायु, क्षेत्रपति, सीता आदि के वर्णन प्रदत्त है।

5. पंचम मण्डल- इस मण्डल मे अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवाः, अत्रि, मित्रावरुणौ, पर्जन्य, पृथ्वी आदि का वर्णन प्राप्त होता है।

6. षष्ठ मण्डल- इस मण्डल में अग्नि, इन्द्र, विश्वेदेवाः, गावः, उषा , रथ, धनु आदि के प्रशस्त वर्णन मिलते हैं।

7. सप्तम मण्डल- इस मण्डल में अग्नि, इन्द्र, नदी, अश्विनौ, वरुण, सरस्वती, मण्डूकाः आदि के वर्णन प्राप्त होते हैं।

8. अष्टम मण्डल- इस मण्डल मे इन्द्र, अश्विनौ, अदिति, आदित्य, मित्रावरुणौ, सुपर्ण आदि का उल्लेख किया गया है।

9. नवम मण्डल- इस मण्डल में पवमान सोम का वर्णन है।

10. दशम मण्डल- इस मण्डल में यम-यमी-संवाद (सूक्त-14), अक्षाः (सूक्त-34), मनः (सूक्त-58), ज्ञानम् (सूक्त-71), पुरूष सूक्त (सूक्त-90), पुरूखा-उर्वशी-संवाद (सूक्त-95), सरमा-पाणि-संवाद (सूक्त-108), प्रजापति (सूक्त-121), भाववृत्तम् (नासदीय सूक्त-129), श्रद्धा (सूक्त-151), संज्ञानम् (संघटन सूक्त-191)।

यह ध्यातव्य है कि देवता शब्द का प्रयोग प्रतिपाद्य-विषय के अर्थ में वेद में प्रयुक्त होता है जिन्हें भ्रमवश पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ऋग्वेद में देवता का अर्थ 'देव' लिया गया है।

ऋग्वेद का वैशिष्ट्य

ऋग्वेद का कई दृष्टिकोणो से अतीव महत्त्व है। यह धार्मिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, राजनीतिक, आर्थिक, दार्शनिक तथा काव्यशास्त्रीय दृष्टि से अत्यन्त सारगर्भित है। धार्मिक दृष्टि से यज्ञों का वैशिष्ट्य, ईश्वर के विविध रूप, देवाराधन, पुराधार्मिक मान्यताएँ, पाप-पुण्य और स्वर्ग-नरक की चर्चा, धर्माधर्म, आस्तिक-नास्तिक, मोक्ष-विषयक मन्तव्य का विस्तृत रूप से वर्णन प्राप्त होता है। सांस्कृतिक दृष्टि से पुराकाल का जीवन-दर्शन, शिष्टाचार, सदाचार, सत्यासत्य-विभेद, हिंसा-अहिंसा मे अन्तर, पाप-पुण्य, विवेक, हेयं-उपादेय का विवेचन ऋग्वेद मे मिलता है।

सामाजिक दृष्टि से वर्ण व्यवस्था, उनके कर्तव्यादि, व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध, विवाहादि विधियॉ, खान-पान, परिधान, साजसज्जा की प्रचुर सामग्री का उल्लेख ऋग्वेद मे प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से पुरातत्त्व युग, कल्प, प्रलय, ऋषि-वंश, देव-असुर, इन्द्र-वृत्र से सम्बन्धित बहुमूल्य सामग्री इस वेद में प्राप्त होती है। राजनीतिक दृष्टि से इसमे राजा के कर्त्तव्य और अधिकार, राज्य शासन, संघशासन, राजतंत्र और प्रजातंत्र, राष्ट्र की कल्पना, राष्ट्र के प्रति कर्त्तव्य, राजा का निर्वाचन, प्रजा के कर्त्तव्य और अधिकार का वर्णन मिलता है। आर्थिक दृष्टि से ऋग्वेद में कृषि, अन्न, कृषि के उपकरण, क्षेत्रों का नाप आदि, व्यापार-वाणिज्य, रत्न, सुवर्ण आदि का वर्णन मिलता है। पशुपालन, विविध वृत्तियो (पेशों) सिक्कों आदि का उल्लेख भी इसमें प्राप्त होता है। दार्शनिक दृष्टि से पुरुष-सूक्त और नासदीय सूक्त में सृष्टि की उत्पत्ति-वर्णन, ब्रह्म, ईश्वर, माया, जीव, एकेश्वरवाद, बहुदेववाद पुनर्जन्म का विशद वर्णन भी ऋग्वेद में प्राप्त होता है। काव्य शास्त्रीय दृष्टि से विश्व का

सबसे प्राचीन काव्यग्रन्थ ऋग्वेद है। इसमे रस, छन्द, अलंकार, भाषानुरूप शब्दचयन प्रसाद-माधुर्य आदि गुणो की चर्चा मिलती है। ऋग्वेद प्राचीन युग का विश्वकोश है। यह आर्ष-काव्य वस्तुतः विद्वद्मण्डल के लिए प्रकाश पुञ्ज है।

ऋग्वेदीय देवः -

यास्क ने निरुक्त (अध्याय 7 से 12) दैवत काण्ड में वैदिक देवों की विशद चर्चा की है। मुख्य रूप से इन्होंने देवों को तीन भागों में बॉटा है- (1) पृथिवी स्थानीय (2) अन्तरिक्ष-स्थानीय और (3) द्युस्थानीय। इनमे भी तीन देवों को इन्होंने प्रमुख माना है - (1) पृथिवी स्थानीय अग्नि (2) अन्तरिक्ष स्थानीय - इन्द्र या वायु और (3) द्युस्थानीय - सूर्य विभिन्न गुणो के कारण उक्त तीन देवों की विभिन्न नामों से स्तुति की गयी है।[1]

निरूक्त में प्रदत्त इन त्रिदेवो के लोक, सवन, ऋतु, छन्द, स्तोभ सग्म की दृष्टि से अधोलिखित रूप से सारणी में दर्शाया जा रहा है।

देवता लोक सवन ऋतु छन्द स्तोमसाम सम्बद्ध-देवता

(1) अग्नि पृथिवी प्रातः वसन्त गायत्री त्रिवृत् रथन्तर इन्द्र, सोम,वरुण आदि।

(2) इन्द्र अन्तरिक्ष माध्यन्दिन ग्रीष्म त्रिष्टुप् पंचदश वृहत् अग्नि, सोम विष्णु, वरुण आदि।

(3) सूर्य द्युलोक सायं वर्षा जगती सम्तदश वैरूप चन्द्रमा,वायु संवत्सर आदि।

वैदिक देवों के सम्बन्ध में अधोलिखित बातें ज्ञातव्य हैं : -

(1) सभी देव प्राकृतिक वस्तुओ के मूर्तिरूप है।

---

[1] तिस्र एव देवता इति नैरुक्ता । अग्नि पृथिवीस्थान । वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थान· । सूर्यो द्युस्थान । (निरुक्त - 7.5)।

(2) सभी देव तेज, पवित्रता, दया, वैदुष्य और हितकारिता से ओतप्रोत है।

(3) युगल देवो मे विशेषण - विपर्यय दृष्टिगत होता है उदाहरणार्थ - इन्द्राग्नी वर्णन मे वृत्रहन् का प्रयोग अग्नि के साथ किया गया है दृष्टव्य है अग्नि और इन्द्र दोनों पाप का नाश करते हैं अतः अग्नि भी वृत्रहा नाम से अभिहित है।

(4) ऋग्वेद मे बहुदेववाद का वर्णन मिलता है इसके साथ ही साथ एकेश्वरवाद का भी उल्लेख प्राप्त होता है।

(5) ऋग्वेद में देवो के माता-पिता की कल्पना भी की गयी है। द्यावापृथिवी, अदिति आदि को देवो के माता-पिता के रूप मे चित्रित किया गया है।

(6) देवों के पिता-पुत्र वर्णन के साथ उनके शरीर के अङ्ग - उपाङ्ग की भी कल्पना की गयी है।

वस्तुतः अग्नि के ज्वाला पुंज को उसके शरीर और लपलपाती हुई लपटो को उसकी जिह्वा के रूप में चित्रित किया गया है।

(7) एक ओर वरुण जैसे सौम्य देव का वर्णन है तो दूसरी ओर मरुत् और रुद्र जैसे क्षात्र-गुणयुक्त देव का उल्लेख मिलता है।

(8) देवों को सत्यनिष्ठ, निष्कपट, धर्मपरायण और न्यायप्रिय बताया गया है। वरुण को कठोर न्यायाधीश बताया गया है। वरुण को कठोर न्यायाधीश के रूप में चित्रित किया गया है जो कभी किसी के पाप को क्षमा नहीं करते।

(9) 33 देवों का उल्लेख इस वेद में प्राप्त होता है।

यजुर्वेद

यज्ञ सम्बन्धी मन्त्रों को यजुष् कहते हैं। पद्य बन्ध और गति से रहित रचना यजुष् कहलाती है। वास्तव में यजुर्वेद सहिता में छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोग का मिश्रण पाया जाता है। सम्भवतः 'यजु' गद्य की प्रधानता होने के कारण ही संहिता का नाम यजुर्वेद पड़ा है।

यजुर्वेद की शाखाएँ :-

शुक्ल और कृष्ण यजुर्वेद के दो भाग हैं। विशुद्ध मन्त्रात्मक भाग होने के कारण ही प्रथम यजुर्वेद का भाग शुक्ल यजुर्वेद कहलाया। कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के साथ ही व्याख्या और विनियोग का अंश मिश्रित है अतः इसे कृष्ण (अस्वच्छ, मिश्रित) कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने यजुर्वेद की सौ (100) शाखाओं का उल्लेख किया है। सर्वानुक्रमणी तथा कूर्म पुराण में भी सौ शाखाओं का उल्लेख प्राप्त होता है।

शुक्ल यजुर्वेद की दो शाखाएं है जिनकी दो संहिताएं उपलब्ध होती हैं - (1) माध्यन्दिन अथवा वाजसनेयि संहिता - इसमें चालीस (40) अध्याय और (1975) एक हजार नौ सौ पचहत्तर मन्त्र हैं।

(2) काण्व संहिता - इसमें भी चालीस (40) अध्याय हैं वाजसनैयि से (111) एक सौ ग्यारह मन्त्र इसमें अधिक हैं अस्तु इनकी मन्त्र संख्या 2086 है। सातवलेकर जी ने वाजसनेयि संहिता के साथ ही काण्व संहिता के पाठ भेद दिये है।

कृष्ण यजुर्वेद की चार शाखाए है। जिनकी चार सहिताएं उपलब्ध होती हैं। (1) तैत्तिरीय सहिता - इसमें सात काण्ड 44 (चौवालिस) प्रपाठक और छः सौ इकतीस (631) अनुवाक है।

(2) मैत्रायणी सहिता - यह चार काण्डों, चौवन (54) प्रपाठकों और कुल दो हजार एक सौ चौवालिस (2144) मन्त्रों से युक्त है। ये मन्त्र मुख्य रूप से ऋग्वेद के प्रथम, षष्ठ और दशम मण्डलो से लिये गये हैं।

(3) काठक संहिता - इसमें चालीस (40) स्थानक और आठ सौ तैंतालिस (843) अनुवाक हैं, इनमें मन्त्रों की संख्या तीन हजार इक्यानबे (3091) है।

(4) कपिष्ठल संहिता - वस्तुतः इस शाखा का नाम कपिष्ठल कठ संहिता है। इसमें छः अष्टको में अढ़तालिस (48) अध्याय हैं। ऋग्वेद का इस संहिता पर पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।

यजुर्वेद का वर्ण्य विषय

यजुर्वेद कर्मकाण्ड का वेद है। यज्ञ करने वाले तथा यजुर्वेद के मन्त्रों का उच्चारण करने वाले पुरोहित को 'अध्वर्यु' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। वह यज्ञ को सम्पन्न करता हैं वह पौर्णमास, अग्निहोत्र और चातुर्मास्य इष्टियाँ, राजसूय।

यजुर्वेद-

अध्वर्यु कर्म के लिए यजुर्वेद में उपादेय यजुषो का संग्रह विद्यमान है। यजुर्वेद के दो सम्प्रदाय हैं- (1) ब्रह्म संप्रदाय (2) आदित्य सम्प्रदाय। ब्रह्म संप्रदाय का यजुर्वेद कृष्ण यजुर्वेद के नाम से जाना जाता है। कृष्ण यजुर्वेद के द्रष्टा वैशम्पायन ऋषि हैं। शुक्ल यजुर्वेद

आदित्य सम्प्रदाय का यजुर्वेद है शुक्ल यजुर्वेद के द्रष्टा ऋषि याज्ञवल्क्य हैं। शतपथ ब्राह्मण मे याज्ञवल्क्य आख्यान आदित्य सम्प्रदाय के प्रतिनिधि शुक्ल यजुर्वेद हुआ है- 'आदित्यनामानि शुक्लानि यंजूषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते।' इसका अन्तिम (40वॉ अध्याय) ईशावास्योपनिषद् है जिसका अन्तिम मन्त्र इस संहिता का आदित्य के साथ घनिष्ठता का परिचायक है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।

योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।।

यज्ञ, सौत्रामणी यज्ञ, अश्वमेध यज्ञ करता है। अश्वमेघ यज्ञ ब्राह्मण वर्ग को ओजस्वी बनाने के लिए किया जाता है। सर्वमेध यज्ञ सार्वजनिक उन्नति के लिए किया जाता है। पितृ मेध यज्ञ पिता की सेवा, शुश्रूषा, श्राद्ध और तर्पण के लिए प्रयुक्त होता है। अतः ईश्वरोपासना आदि प्रसंगो में नरमेध शब्द आत्मसमर्पण का अर्थ द्योतित करता है।

वस्तुतः यजुर्वेद की रचना के चार (4) सोपान है। एक से अट्ठारह (1-18) अध्याय मूल भाग से सम्बन्धित है, उन्नीस से पच्चीस (19-25), छब्बीस से उन्तालीस (26-39) और अन्त में चालीसवाँ अध्याय ईश उपनिषद् मात्र है। यज्ञों का महत्त्व जलवृष्टि, समृद्धि और मनोवांछित फल की प्राप्ति के लिए प्रदर्शित होता है। यजुर्वेद में प्रजापति मुख्य देवता हो गये हैं। रुद्र, शिव, शंकर और महादेव के रूप मे इनका विकास हुआ है। विष्णु अब यज्ञ स्वरूप बन गये और यज्ञ नारायण स्वरूप हो गये। यज्ञ के महत्त्व के साथ पुरोहितों का महत्त्व भी बढ़ गया। कर्मकाण्ड के द्वारा ब्राह्मणों का सामाजिक और धार्मिक महत्त्व निश्चित तौर पर अभिवृद्ध हुआ।

सामवेद

सामन् का तात्पर्य गान से है। ऋग्वेदीय मन्त्र जब विशिष्ट गान पद्धति से गाये जाते हैं, तो उन्हे सामन् (साम) कहते हैं। पूर्वमीमांसा में भी गीति या गान को साम कहा गया है। ऋग्वेद एवं सामवेद (ऋचा+गान) ही सामन् हैं सामन्, ऋक् और गान का सम्मिलन साम है।

सामवेद की शाखाएँ

वर्तमान मे सामवेद की तीन शाखाऎं ही उपलब्ध हैं।

(1) राणायनीय (2) कौथुमीय (3) जैमिनीय

राणायनीय शाखा में मन्त्रों की गणना (1) प्रपाठक (2) अर्धप्रपाठक (3) दशति एवं (4) मन्त्र इस प्रकार से है। कौथुमीय शाखा का प्रकार (1) अध्याय (2) खण्ड (3) मन्त्र है। जैमिनीय शाखा की तवलकार अवान्तर शाखा है।

सामवेद की सम्पूर्ण मन्त्र संख्या एक हजार आठ सौ पचहत्तर (1875) है। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रों की संख्या एक हजार सात सौ इकहत्तर (1771) है। इस प्रकार केवल एक सौ चार (104) मन्त्र सामवेद में नये हैं। सामवेद दो भागों में विभक्त है। (1) पूर्वार्चिक (2) उत्तरार्चिक।

पूर्वार्चिक मे चार काण्ड (क) आग्नेय (ख) ऐन्द्र (ग) पावमान (घ) आरण्यकाण्ड और महानाम्नी आर्चिक हैं। इसमें छः अध्याय और छः सौ पचास (650) मन्त्र हैं। (2) उत्तरार्चिक में 21 अध्याय (या 9 प्रपाठक) और एक हजार दो सौ पच्चीस (1225) मन्त्र है। उत्तरार्चिक में कुल चार सौ सूक्त (400) हैं। जिनमें दो सौ सत्तासी (287) सूक्तों में

प्रत्येक मे तीन-तीन मन्त्रों का समूह है। छाछठ (66) मे दो-दो मंत्र है। शेष एक से बारह (112) तक मन्त्र-समूह हैं।

सामवेद का वर्ण्य विषय-

सामवेद मे उपासना ही प्रमुख है। इसके अन्तर्गत प्रमुख रूप से सोमयाग से सम्बद्व मन्त्रो का सग्रह है। पूर्वार्चिक में अग्नि, इन्द्र और पावमान सोम से सम्बद्ध मन्त्र सकलित हैं। अधिकांश त्रिक आदि का प्रथम मन्त्र पूर्वार्चिक होता है, जिसकी लय पर वह सम्पूर्ण सूक्त गाया जाता है। यज्ञ के समय उद्गाता इन मन्त्रो को गाता है, इस कारण यजुर्वेद और सामवेद की निकटता परिलक्षित होती है। सामवेद में सोम, सोमरस, सोमपान, सोगयाग का विशेष महत्त्व है, अतः इसे सोम प्रधान वेद भी कहा जा सकता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से सोम ब्रह्म या शिव तत्त्व है। उसकी प्राप्ति का एकमात्र साधन उपासना है, अतः सामवेद की भक्ति एवं संगीत का माध्यम उसकी प्राप्ति का साधन है।

सामवेदीय सगीत आधुनिक संगीत शास्त्र की आधार शिला है। सामवेदीय मन्त्रों के ऊपर 1,2,3 अंकों का अर्थ है उदात्त, स्वरित, अनुदात्त। ऋग्वेद मे उदात्त पर कोई चिह्न नहीं होता है किन्तु सामवेद मे तो उस पर 1 संख्या अंकित की जाती है। स्वरित के ऊपर जहॉ ऋग्वेद में खड़ी लकीर होती है वहाँ सामवेद में उस पर '2' संख्या होगी। ऋग्वेद मे अनुदात्त अक्षर के नीचे पड़ी लकीर होती है उस पर सामवेद में '3' है और मूर्च्छनाऍ '21' हैं, तान '49' हैं। सामवेद के 1,2,3 आदि अंक क्रमश· मध्यम, गान्धार, धैवत के हैं।

सामवेद में आलाप आदि के लिए शब्द को आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर लिया जाता है जिसे विकार कहते है। शब्द या पद को तोड़ने का नाम विश्लेषण है। एक रबर

को देर तक खीचना और उसे दो या अधिक मात्रा के बराबर बोलना विकर्षण कहा जाता है। किसी पद को बार-बार बोलना अभ्यास कहलाता है। गायन की सुविधा के लिए शब्द को बीच में तोडकर रुक जाना- इसे विराम कहते है। आलाप के योग्य पदों को ऊपर से जोड़ लेना स्तोभ कहलाता है। ये छ· साम विकार के नाम से प्रसिद्ध हैं।

अथर्ववेद

निरुक्त मे अथर्वन् का अर्थ है, गतिहीन या स्थिर। इसका अभिप्राय है - जिसमें चित्तवृत्तियों के निरोध रूपी योग का उपदेश है।[1] गोपथ ब्राह्मण में अथर्वा शब्द अथार्वाक् का संक्षिप्त रूप माना गया है। 'अथ अर्वाक् = अथार्वाक्, अथर्वा'। गोपथ ब्राह्मण ने इसका अभिप्राय इस प्रकार व्यक्त किया है- समीपस्थ आत्मा को अपने अन्दर देखना अथवा जिस वेद में आत्मा को अपने अन्दर देखने की शिक्षा है।[2]

(1) अथर्ववेद यह नाम अथर्वन् ऋषि के नाम पर पड़ा। इस वेद में सबसे अधिक मन्त्र अथर्वा ऋषि ही हैं। इनकी संख्या 1768 है।

(2) अथर्वाङ्गिरस वेद- अथर्ववेद का प्राचीन नाम अथर्वाङ्गिरस वेद है। इसमें अथर्वा और अंगिरस ऋषि के वशजो द्वारा दृष्ट/वेद मन्त्रो का संग्रह है अतः इसे अथर्वाङ्गिरस वेद के नाम से पुकारते हैं।

(3) अगिरस वेद - गोपथ ब्राह्मण में अंगिरस ऋषि और उनके वंशजों द्वारा दृष्ट होने के कारण (इन मंत्रों का सकलन) अंगिरस वेद कहा गया।

---

[1] अथर्वाणोऽथर्वणवन्त । थर्वतिश्चरतिकर्मा, तत्प्रतिषेघ· (निरुक्त 11.18)

[2] अथ अर्वाग् एव . . ... अन्विच्छेति, तद्यदब्रवीद अथार्वाङ्गेन मेतास्वप्स्वन्विच्छेति तदथर्वाऽभवत् (गोपथ 1 4)।

(4) ब्रह्मवेद - अथर्ववेद का पूरा नाम ब्रह्मवेद है। इसमें ब्रह्म द्वारा दृष्ट 967 मन्त्र संकलित हैं।

(5) भृग्वंगिरो वेद - गोपथ (3-1) में भृग्वंगिरा के दृष्ट 670 मंत्रों के आधार पर इस वेद को भृग्वगिरो वेद नाम से व्यवहृत किया गया।

(6) क्षत्रवेद - राजाओं और क्षत्रियो के कर्त्तव्य निर्देशन अधिक होने के फलस्वरूप शतपथ ब्राह्मण मे इसे क्षत्रवेद की संज्ञा दी गई।

(7) भैषज्यवेद - आयुर्वेद, चिकित्सा, औषधियों का अधिक वर्णन होने से इस वेद को मैषज्य वेद कहा गया। अथर्ववेद मे इसे भेषजांग कहा गया है।[1]

(8) छन्दोवेद - अथर्ववेद छन्दः प्रधान है अस्तु इसे छन्दोवेद नाम से अभिहित किया गया।

(9) महीवेद - महती ब्रह्मर्षि दूत के उपदेश के समाहित होने के कारण अथवा पृथ्वी सूक्त के समावेश के कारण इसे महीवेद के नाम से जाना गया।

अथर्ववेद की शाखाएँ-

महामाष्यकार पतञ्जलि ने 'नवधाऽऽथर्वणो वेदः' कहकर अथर्ववेद की 9 शाखाओं के सम्बन्ध में अपना निगरण प्रस्तुत किया। अथर्ववेद की -

1. पैप्पलाद 2. तौद 3. मौद 4. शौनकीय 5. जाजल 6. जलद 7. ब्रह्मवद 8. देवदर्श 9. चारणवैध आदि 9 शाखाएँ है। अधुनातन मात्र पैप्पलाद एवं शौनकीय शाखा से सम्बन्धित अथर्ववेद का रूप प्राप्त होता है।

---

[1] ऋज सामानि भेषजा। यजूषि (अथ0 11 6.14)।

अथर्ववेद के 5 उपवेद हैं-

1. सर्पवेद 2. पिशाचवेद 3. असुरवेद 4. इतिहासवेद 5. पुराणवेद इन पॉचों मे से आजकल इतिहास और पुराणवेद ही प्राप्त किये जा सकते हैं।

अथर्ववेद का वर्ण्यविषय -

पाश्चात्य विद्वान् ब्लूमफील्ड और विण्टरनित्स ने अथर्ववेद का पूरा नाम 'अथर्वाङ्गिरस वेद' माना है। अवेस्ता का अथ्रवन शब्द अथर्वन का प्रतिनिधि है जिसका तात्पर्यार्थ 'पुरोहित' है। यह अग्नि की उपासना पर बल देता है। अथर्वन् के मत्रो में सुख-शान्ति और अच्छाई वाले 'जादू' है तो आंगिरस मत्रों में कृत्या-प्रयोग, अभिचार कर्म, शत्रुनाशन आदि के मंत्रों का समावेश है।

अथर्ववेद का वैशिष्ट्य -

वैदिक वाङ्मय में अथर्ववेद अथवा अथर्वा का अत्यधिक वैशिष्ट्य है। ऋग्, यजु और अथर्व तीनों वेद उनकी शतश· प्रशंसारत रहते हैं।

(1) अथर्वा ने सबसे पहले अग्नि का अन्वेषण किया। अग्नि के उत्पन्न करने के अरणि-मन्थन और जल-मन्थन दो रूप है।

(2) अग्नि सर्वप्रथम यज्ञ कार्य हेतु प्रयुक्त की गयी।[1]

(3) वह वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञ-विधि और वैदिक तत्त्व मीमांसा का प्रचारक है।

---

[1] यज्ञ अथर्वा प्रथम पथस्तते। (ऋक्0 1.83 5)।

(4) अथर्वा का दृष्टिकोण सार्वभौम था। अत· उन्होने आध्यात्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक दार्शनिक, शास्त्रीय विषयों पर अपनी दृष्टि डाली है।

(5) वैदिक दर्शन का सर्वाधिक पुष्ट एवं प्रामाणिक स्त्रोत हैं।

(6) सभ्यता और सस्कृति की दृष्टि से अथर्ववेद चारों वेदो में सबसे अधिक उपयोगी है।

(7) अथर्ववेद विश्वकोष है। इसमे ज्ञान-विज्ञान का पूर्ण सग्रह अवस्थित है।

(8) इसमे विरोधी गुणों का समन्वय अवस्थित है। एक ओर जहाँ विशुद्ध ब्रह्मवेद है वहीं दूसरी ओर क्षत्रवेद (क्षत्रियों का वेद) भी है।

(9) यह सार्वजनिक वेद है। सभी द्वारा समान रूप से इसका निसेवन किया जाता है।

(10) इसका साहित्य सर्वोत्तम और प्राचीनतम निदर्शन है।

(11) अथर्ववेद के मंत्र शक्तिसम्पन्न हैं। अथर्वपरिशिष्ट[1] और स्कन्द पुराण[2] में कहा है कि इसके मंत्र-जप से इष्ट-सिद्धि प्राप्त होती है। इसीलिए मैक्डॉनेल महोदय के उद्गार यहॉ समीचीन प्रतीत होते है-

"सभ्यता के इतिवृत्त के अध्ययन के लिए ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में उपलभ्यमान सामग्री कहीं अधिक रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है।"[3]

ब्राह्मण ग्रन्थ-

ब्राह्मण ग्रन्थ नामकरण के तीन प्रमुख आधार निश्चित किये जाते हैं-

(1) ब्रह्म से तात्पर्य है मन्त्र। मन्त्रों की व्याख्या और विनियोग के प्रस्तुतीकरण के आधार पर इन्हें 'ब्राह्मण' नाम दिया गया। (2) ब्रह्म का द्वितीय अर्थ है यज्ञ। यज्ञो की व्याख्या और

---

[1] न तिथिर्न च नक्षत्र न ग्रहो न च चन्द्रमा ।
अथर्वमत्रसम्प्राप्ता सर्वसिद्धिर्भविष्यति।। (अथ0 परि0 2.5)।

[2] यस्तमाथर्वणान् मन्त्रान् जयेत् श्रद्धासमन्वित ।
तेषामर्थोद्भव कृत्स्म फल प्राप्नोति स ध्रुवम्।। (स्कन्द पुराण, कमलालय खण्ड)।

[3] स0सा0 का इति0 (हिन्दी) पृष्ठ- 172।

विवरण प्रस्तुतीकरण में इन्हे ब्राह्मण नाम से अभिहित किया। (3) ब्रह्म शब्द का तात्पर्य है रहस्य। वैदिक रहस्यों के उद्घाटित करने के फलस्वरूप इन्हें ब्राह्मण कहा गया। इनमें यज्ञों के आध्यात्मिक, आधिदैविक और वैज्ञानिक वैशिष्ट्य बताये गये हैं। भट्टभास्कर ने कर्मकाण्ड तथा मंत्रो के व्याख्यान ग्रन्थो को 'ब्राह्मण' नाम से अभिहित किया है।

'ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणां व्याख्यानग्रन्थः'

(भट्टभास्कर - तैत्ति0 स0 1-5-1 पर)

आचार्य वाचस्पति मिश्र द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थो का प्रयोजन निर्वचन, मंत्रविनियोग, अर्थवाद (प्रतिष्ठान) और विधि माना गया है-

'नैरुक्त्यं यस्य मंत्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्।

प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते।।'

ब्राह्मण ग्रन्थों का वर्ण्य विषय -

ब्राह्मण ग्रन्थो में प्रयोक्तव्य विषय को तीन भागों मे विभक्त किया जा रहा है-

(1) विधि - जिसमें यज्ञ तथा उससे सम्बन्धित क्रियाकलाप निर्दिष्ट किये गये हैं।

(2) अथर्ववेद - जिसमें यज्ञों के वैशिष्ट्य का बोध कराते हुए तत्सम्बन्धी उपाख्यान प्रदत्त हैं।

(3) उपनिषद् - जिसमें आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विचारों को सम्मिलित किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ निष्पादन के लिए चार पुरोहितों की आवश्यकता को दर्शाया गया है। इन चारो का एक-एक वेद से सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में 1. होता-द्वारा यज्ञ में मन्त्रों के पाठ करने का उल्लेख है।

2. अध्वर्यु - द्वारा यज्ञ कार्य निष्पादित किया जाता है और यजुर्वेद के मंत्रों का पाठ किया जाता है।

3. उद्गाता - द्वारा सामवेद के मंत्रो का गायन प्रस्तुत किया जाता है।

4. ब्रह्म - द्वारा चारो वेदो का सांगोपांग ज्ञान प्राप्त किया जाना अभीष्ट होता है। पुरोहितों का स्थान सर्वोच्च होता है। इसके निरीक्षण और निर्देशन में यज्ञकार्य सम्पन्न होता है।

मन्त्र और ब्राह्मण -

निर्विवाद रूप से सहिता और ब्राह्मण ग्रन्थ स्वतंत्र अस्तित्व रखते हैं। मंत्र भाग का कर्मकाण्ड में विनियोग किया जाता है। ब्राह्मण भाग में मत्रो की विनियोग विधि वर्णित होती है। मूल ग्रंथों का वाचन विधिपूर्वक किया जाता है तथा उसका व्याख्यान अथवा भाष्य किया जाता है। यज्ञों में मन्त्रो को बोलकर आहवनीय सामग्री से हवन किया जाता है। ब्राह्मण भाग में तो मन्त्रों और मन्त्रों के विनियोग की विधि का निगरण किया जाता है। वस्तुतः दोनों एक दूसरे से अन्योन्याश्रित सम्बन्ध रखते हैं।

वेद शब्द मूलरूप से संहिताओ का ही वाचक है ब्राह्मण का नहीं। वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण आरण्यक और उपनिषदों का भी समावेश परिलक्षित होता है। वेद शब्द का गौण अर्थ लेते हुए यदि उसके वैदिक वाङ्मय से सम्बन्ध स्थापित करते है तो ब्राह्मणों को भी वेद कहा जा सकता है। इसी के फलस्वरुप गौण अर्थ का ग्रहण कर 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनाधेयम्' (आपस्तम्ब), मंत्र तथा ब्राह्मणो को वेद कहते हैं- यह उक्ति वस्तुतः प्रचलन में है। यही भाव आपस्तम्ब श्रौतसूत्र (24-1-31), बौधायन गृह्य सूत्र

(2-6-3), कौशिक सूत्र (1-3) आदि में व्यक्त किया जाता है। निश्चित तौर पर मंत्रों तथा ब्राह्मणो मे पर्याप्त विभेद है। उदाहरण - भाव-भेद, रचना-भेद, विषय-भेद और प्रक्रिया-भेद में। अतः दोनों को वेद कहना असंगत और अनुपयुक्त है।

वेदानुसार ब्राह्मणों का वर्गीकरण :-

ऋग्वेदीय - (1) ऐतरेय ब्राह्मण, (2) शांखायन कौषीतकि) ब्राह्मण (ऋग्वेदीय)

शुक्ल यजुर्वेदीय- (3) शतपथ ब्राह्मण

कृष्ण यजुर्वेदीय- (4) तैत्तिरीय ब्राह्मण

सामवेदीय- (5) पंचविंश (ताण्ड्य अथवा प्रौढ़) ब्राह्मण, (6) षड्विंश, (7) सामविधान,

(8) आर्षेय, (9) दैवत, (10) छान्दोग्य (उपनिषद्) ब्राह्मण, (11) संहितोपनिषद्,

(12) वंश ब्राह्मण, (13) जैमिनीय (तलवकार) ब्राह्मण

अथर्ववेदीय- (14) गोपथ ब्राह्मण।

ब्राह्मण ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय :-

(1) **ऐतरेय ब्राह्मण** - इसमें 40 अध्याय हैं जो 5-5 अध्यायों की आठ पंचिकाओं में विभक्त हैं। इनका वर्ण्य विषय है - सोमयाग वर्णन। इसमें सोमयाग से सम्बन्धित अग्निष्टोम, गवामयन, द्वादशाह, अग्निहोत्रादि का चित्रण उपलब्ध है। इसके पश्चात् राज्याभिषेक, कुलपुरोहित के अधिकार का उल्लेख मिलता है। अन्तिम दश आख्यानों में उपाख्यान और इतिहास प्रदत्त हैं। सप्तम पंचिक के 3 अध्यायों (31 से 33 अध्याय) में शुनः शेप आख्यान प्रस्तुत किया गया है, जो चरैवेति-चरैवेति गाथाओं के कारण विशेष उल्लेख्य है। यह ऋग्वेद का सबसे प्रसिद्ध ब्राह्मण है। इसके रचयिता महिदास ऐतरेय माने जाते हैं।

(2) **शांखायन ब्राह्मण** - इसको कौषीतकि ब्राह्मण भी कहा जाता है। इसमें 30 अध्याय है। इसमें अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास और चातुर्मास्य इष्टियों का उल्लेख किया गया है। इसमें भी सोमयाग प्रमुख विषय है।

(3) **शतपथ ब्राह्मण** -

शुक्ल यजुर्वेद का यह एकमात्र ब्राह्मण है। इसके दो पाठ उपलब्ध हैं। (य) माध्यन्दिन शाखीय - इसमें 14 काण्ड, और 100 अध्याय हैं। 100 अध्यायो के कारण ही इसका नाम शतपथ पड़ा। (ख) कण्वशाखीय - इसमें 17 काण्ड और 104 अध्याय हैं। शतपथ ब्राह्मण के रचयिता याज्ञवल्क्य ऋषि माने जाते हैं। इसके पहले के 9 काण्डो में शुक्ल यजुर्वेद के 18 अध्यायों की व्याख्या उपलब्ध है। इनमे दर्श पौर्णमास, अग्निहोत्र, चातुर्मास्य राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेघ आदि का विस्तृत चित्रण प्राप्त होता है। इनमे पुरूखा-उर्वशी, दुष्यनापुत्र भरत, मत्स्य जलप्लावन कथानकों का उल्लेख हैं बौद्ध साहितय में प्रापत पारिभाषिक शब्द अर्हतू, श्रमण, प्रतिबुद्ध का प्रयोग सबसे पहले यहीं उपलब्ध होता है।

(4) **तैत्तिरीय ब्राह्मण** -

यह कृष्ण यजुर्वेदीय रमखा का एक मात्र ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसमें 3 काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में अध्याधग्न, सोम, राजसूय का उल्लेख है। द्वितीय काण्ड में सौत्रामणि, बृहस्पतिसब और वैश्वसब आदि का वर्णन मिलता है। तृतीय काण्ड में नक्षमेष्टि का मुख्य रूप से उलेख किया गया है। कृष्ण यजुर्वेद की अन्दशाख्याओं के ब्राह्मण उपलब्ध नही है।

(5) सामवेदीय ब्राह्मण

सामवेद के 11 ब्राह्मण ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। इनमे ताण्ड्य शाखा का पचविश ब्राह्मण प्रमुख है। इसे प्रौढ, ताण्ड्व और महाब्राह्मण नाम से पुकारा जाता है। इसमें 25 अध्यगम्य हैं। इसका प्रमुख विषय सोमयाग है। षड्विंश ब्राह्मण में 5 प्रपाठक हैं। यह वस्तुतः पंचविंश ब्राह्मण का ही परिशिष्ट है। इसके अन्तिम प्रपाठक को अद्‌भुत ब्राह्मण कहते हैं। इसमें उत्पातों की शान्ति का विधान है। छान्दोग्य ब्राह्मण - इसमे 2 प्रपाठक है। यह प्रसिद्ध छान्दोगय उपनिषद् है। सामविधान ब्राह्मण मे 3 प्रकरण हैं। जिनमे कृच्छ, अतिकृच्छ, आदि व्रतों, पुत्र, ऐश्वर्य, आयुष्य की प्राप्ति के लिए विविध अनुकार्यों का वर्णन प्राप्त होता है। आर्षेय ब्राह्मण में 3 प्रपाठक है। यह सामवेद की आर्षानुक्रमणी का कार्य करती हैं इसमें दिये गये छन्दों का निर्षवन विशेष महत्वपूर्ण हैं। संहितोपनिषद् ब्राह्मण में सामगान की पद्धति दी गई है। वश ब्राह्मण में सामवेद के गुरूओं की पंक्ष परम्परा का उल्लेख मिलता है। जैमिनीय अथवा तलबकार ब्राह्मण में यामानुष्ठानों का वैशिष्ट्य वर्णित है। इसका ही एकमात्र जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण नाम से विश्व विश्रुत है जिसे गायभ्युयनिषद् के नाम से भी जाना जाता है।

(6) गोपथब्राह्मण -

यह अथर्वेद का - एकमाना ब्राह्मण है। यह दो भागों में विभक्त है :- (1) पूर्व भाग अथवा पूर्व गोपथ (2) उत्तर भाग या उत्तर गोपथ। प्रथम भाग में 5 प्रपाठक है और द्वितीय में 6 पूर्वभाग ममें वर्णित विषय इस प्रकार हैं :- ओकार और गायत्री का महत्व, ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य, ऋषियों के कार्य और उनकी दीक्षा, संवत्सर सत्र, पुरूष मेघ, अश्वमेघ

अग्निष्टोम आदि प्रसिद्ध याग। उत्तर मे विविध यज्ञों और उनसे सम्बन्धित आख्यायिओ का उल्लेख है। इसके रचयिता गोपथ ऋषि माने जाते है।

अनुपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थ

उपलब्ध ब्राह्मण ग्रन्थो का संक्षिप्त विवेचन पूर्वतः कर दिया गया है। सम्प्रति उन ब्राह्मण ग्रन्थो का उल्लेख किया जायगा जो अप्राप्त हैं।

डॉ. बटकृष्ण घोष महोदय द्वारा ऐसे अनुपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थों के नाम एकत्र करने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है।[1] ये अनुपलब्ध ब्राह्मणग्रन्थ हैं -

(1) शाट्यायन-ब्राह्मण

(2) भाल्लवि ब्राह्मण

(3) तवलकार ब्राह्मण

(4) आह्वरक ब्राह्मण

(5) कंकति ब्राह्मण

(6) कालबब्रि ब्राह्मण

(7) चरक ब्राह्मण

(8) छागलेय ब्राह्मण

(9) जाबालि ब्राह्मण

(10) पैंगायनि ब्राह्मण

(11) माषशरावि ब्राह्मण

---

[1] दृष्टव्य है उनका ग्रन्थ 'कलेक्शन आव फ्रेगमेण्ट्स आव लास्ट बाह्मणाज - कोलकाता - 1953।

(12) मैत्रायणीय ब्राह्मण

(13) रीरुकि ब्राह्मण

(14) शैलालि ब्राह्मण

(15) श्वेताश्वतर ब्राह्मण

(16) हारिद्रविक ब्राह्मण

(17) काठक ब्राह्मण

(18) खाण्डिकेय ब्राह्मण

(19) औरवेय ब्राह्मण

(20) गालव ब्राह्मण

(21) तुम्बरु ब्राह्मण

(22) आरूणेय ब्राह्मण

(23) सौलभ ब्राह्मण

(24) पराशर ब्राह्मण

आरण्यक ग्रन्थ

सायणाचार्य ने तैत्तिरीय तथा ऐतरेय आरण्यकों के भाष्य में आरण्यक का अर्थ इस प्रकार किया है - जो अरण्य में पढ़ा या पढ़ाया जाय, उसे आरण्यक नाम से सम्बोधित किया जाता है।[1] इसमें आत्म विद्या, तत्त्व चिन्तन तथा रहस्यात्मक विषयों का वर्णन है।

---

[1] अरण्याध्ययनादेतद्द आरण्यकमितीर्यते।
अरण्ये तदधीयीतेत्येव वाक्य प्रवक्ष्यते ।। (तैत्ति0 आ0भा0 श्लोक-6)

अतः गोपथ ब्राह्मण (2-10) और बौधायन - धर्मसूत्र-भाष्य (2-8.3) मे आरण्यको को रहस्यग्रन्थ नाम दिया जाता है।

ये ग्रन्थ गृहस्थ जीवन से निवृत्त और वानप्रस्थ जीवन यापन कर रहे लोगो के लिए थे। जो वन में रहकर निरन्तर मनन चिन्तन, स्वाध्याय, जप, तप एवं धार्मिक कार्यों में संलग्न रहते थे। नगरों मे रहकर चिन्तन, मनन, स्वाध्याय आदि कार्यों के निर्वहन में उन्हें कठिनाई होती।

आरण्यकों के वर्ण्य विषय -

उपनिषदों के पूर्व आरण्यक ग्रन्थों का क्रम निर्धारित है। उपनिषदों मे आत्मा-परमात्मा, सृष्ट्युत्पत्ति, ज्ञान, कर्म, उपासना तथा तत्त्वज्ञान विषयों का उल्लेख मिलता है। तत्त्वचिन्तन का प्रारम्भिक विवेचन आरण्यकों में देखा जा सकता है। आरण्यकों मे वैदिक यागों के आध्यात्मिक तथा तात्त्विक स्वरूप का विवेचन प्राप्त होता है। विष्णुर्वै यज्ञः (शांखायन ब्राह्मण) की इस उक्ति से यज्ञ को विष्णु अथवा ब्राह्मण ब्रह्म के स्वरूप में माना जाता है। यज्ञ की व्याख्या ब्रह्म की व्याख्या है।

इसीलिए 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म' कहकर यज्ञ कर्म की प्रशंसा की गयी है। यज्ञ सृष्टि का नियन्ता कहा जाता है। आरण्यको में यज्ञ का दार्शनिक रूप, आत्मविवेचन, तत्त्वमीमांसा, ज्ञान-कर्म तथा उपासना का सम्यक् समन्वय, वर्णाश्रम धर्मादि का उल्लेख मिलता है।

आरण्यक की महत्ता सर्वत्र स्वीकृत रही है। आदि पर्व में महाभारत का कथन है कि ओषधियों से उद्धृत अमृत के समान ही आरण्यक वेदो से सारभूत मानकर उद्धृत किया

गया है।[1] विषय की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् मे साम्य है और वृहदारण्यक आदि आरण्यक ग्रथो को उपनिषद् भी माना गया है परन्तु दोनों में वर्ण्य विषय की कुछ समता होने पर भी पृथकता का स्पष्टः आभास होता है। आरण्यक का मुख्य विषय प्राण विद्या है जबकि उपनिषद् का निर्गुण ब्रह्म के स्वरुप का विवेचन है। ब्रह्म विद्या तथा प्राणविद्या जैसी रहस्यात्मक विद्या के वर्णन तथा विवेचन के कारण दोनों में साम्य भी है अतएव ये वस्तुतः रहस्य ग्रंथ हैं।

आरण्यक की शाखाएं :-

(1) ऋग्वेद के दो आरण्यक ग्रंथ मिलते हैं - (1) ऐतरेयारण्यक (2) शांखायन (या कौषीतकि) आरण्यक।

(1) **ऐतरेयारण्यक** - इसके अन्तर्गत 18 अध्याय हैं जो पाँच भाग में विभाजित है। ये भाग आरण्यक कहलाते हैं इसमें उकूथ प्राणविद्या, महाव्रत और पुरुष का विवेचन है।

(2) **शांखायन आरण्यक** - इसके अन्तर्गत 15 अध्याय हैं। इसके 3 से 6 अध्यायों को कौषीताकि नाम से अभिहित किया जाता है। इनमें महाव्रतों आदि का वर्णन है। इसमें काशी, विदेह, कुरु-पांचाल आदि का विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है।

(2) **यजुर्वेदीय आरण्यक** - शुक्ल यजुर्वेद का कोई भी आरण्यक उपलब्ध नहीं है। शतपथ ब्राह्मण की माध्यन्दिन और काण्व दोनों शाखाओं के अन्तिम छ' अध्यायों को वृहदारण्यक उपनिषद् नाम से अभिहित किया जाता है। इसमे यत्र-तत्र यज्ञों के रहस्य का वर्णन है अतः

---

[1] आरण्यक च वेदेभ्य ओषधिभ्योऽमृत यथा। (महाभारत - 1-265)

इसे आरण्यक की सञ्ज्ञा दी जाती है। इन आरण्यकों में उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय अधिक है, अतः नाम से आरण्यक होने पर भी इसे उपनिषद् ही गिना जाता है।

(3) **कृष्ण यजुर्वेदीय आरण्यक** -

कृष्ण यजुर्वेद के दो आरण्यक प्राप्त होते है प्रथम - तैत्तिरीय आरण्यक, द्वितीय मैत्रायणीय आरण्यक।

(1) **तैत्तिरीय आरण्यक** - यह कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का आरण्यक हें इसमें 10 प्रपाठक अथवा परिच्छेद हैं इसमें अग्नि की उपासना, इष्ट का चयन, स्वाध्याय, पंचमहायज्ञ, अभिचार मन्त्र तथा पितृमेध आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। इसमें कुरुक्षेत्र, खाण्डव, पांचाल आदि नामों का भी वर्णन मिलता है। सर्वप्रथम इसमें यज्ञोपवीत का निर्देश है। 'प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञः' (2,1,1) इसके दशम प्रपाठक को नारायणीय उपनिषद् कहा जाता है।

(2) **मैत्रायणीय आरण्यक** - इसको मैत्रायणीय उपनिषद् भी कहते हैं। इसमें 6 प्रपाठक है। इसमें आरण्यक और उपनिषद् के अंश मिश्रित हैं।

(4) **सामवेदीय आरण्यक** - सामवेद के दो आरण्यक उपलब्ध हैं। प्रथम - तलवकार (तवलकार) आरण्यक - इसको जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण भी कहते हैं। इसमें ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् मिले हुए हैं। अनेक सामवेद के मन्त्रों की सुन्दर व्याख्या इनमें प्राप्त होती है। इसमें 4 अध्याय है। चतुर्थ अध्याय के दशम अनुवाक को केन उपनिषद् के नाम से अभिहित किया जाता है। द्वितीय - छान्दोग्य आरण्यक - इस आरण्यक को सत्यव्रत सामश्रमी महोदय ने सामवेद आरण्यक संहिता के नाम से मुद्रित करवाया था।

(5) **अथर्ववेदीय आरण्यक** - अथर्ववेद का कोई आरण्यक उपलब्ध नहीं है।

उपनिषद्

उप और नि उपसर्ग पूर्वक सद् धातु (षद् लृ) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उपनिषद् शब्द बनता है। उप-समीप नि-निश्चय से या निष्ठा पूर्वक सद् - बैठना। अतः इसका अर्थ होता है - तत्त्वज्ञान के लिए गुरु के पास सविनय बैठना। इस तत्त्वज्ञान के प्रतिपादन के कारण इन ग्रन्थों को भी उपनिषद् कहा जाने लगा। उपनिषद् का अर्थ ब्रह्म विद्या भी है। सद् धातु (षद्लृ विशरण गत्यवसादनेषु) के तीन अर्थ है-एक विशरण (नाश होना,) जिससे संसार की बीजभूत अविद्या का नाश होता हैं दो-गति पाना या जानना जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है या उसका ज्ञान होता है तीन-अवसादन-शिथिल होना, जिससे मनुष्य के दुःख शिथिल होते हैं। अतः शंकराचार्य ने अविद्या-नाश, दुःख निरोध और ब्रह्म प्राप्ति, इन तीनों अर्थों को लेकर उपनिषद् को ब्रह्म विद्या का द्योतक माना जाता है।

उपनिषदों की संख्या 108 से लेकर 200 तक मानी जाती है। इसमें ग्यारह उपनिषदे प्रमुख मानी जाती हैं उनके नाम है। ईश, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर इन प्रामाणिक उपनिषदों पर ही शंकराचार्य ने अपना भाष्य लिखा है। श्री ह्यूम ने जिन प्रमुख 13 उपनिषदों का अंग्रेजी में अनुवाद किया है उनमें इन 11 के अतिरिक्त कौषीतकि और मैत्री अथवा मैत्रायणीय उपनिषदें हैं मुक्ति उपनिषद् में श्वेताश्वतर को छोड़कर शेष दश को ही प्रमुख उपनिषदें माना है। अतः

इन्होने कहा है - दशोपनिषदम् पठ (मुक्ति 1-26)। दश उपनिषदों का नाम इस प्रकार दिया है। -

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्यतित्तिरि·।

ऐतरेय च छान्दोग्या वृहदारण्यक तथा।। (मुक्ति उप - 1-30)

इन उपनिषदो का संक्षेप मे विवेचन इस प्रकार है।

(1) **ईश-उपनिषद् -**

यह माध्यन्दिन शाखा के यजुर्वेद सहिता का 40 वॉ अध्याय है। आद्य पदों (ईशावास्यमिदं सर्वम्) के आधार पर इसका नामकरण किया गया है इसमें केवल 18 मत्र हैं। यह उपनिषद् कर्म संन्यास का पक्षपाती न होकर निष्काम भाव से कर्म करने का अनुयायी है। इसमें अद्वैत भावना का स्पष्ट प्रतिपादन है। ब्रह्म के स्वरूप के वर्णन के अनन्तर विद्या-अविद्या तथा सम्भूति- असम्भूति का स्पष्ट विवेचन है।

(2) **केन उपनिषद् -**

अपने आरम्भिक पद (केनेषितं पतति) के आधार पर इस उपनिषद् का नाम केन-उपनिषद् हुआ। इस मार्मिक उपनिषद् में मात्र 4 खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में उपास्य ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म में भेद बतलाया गया है। दूसरे में ब्रह्म के रहस्यमय रूप का संकेत है। तृतीय और चतुर्थ खण्ड में उमा, हेमवंती के रोचक आख्यान का आश्रय लेकर पर ब्रह्म की सर्वशक्तिमत्ता तथा देवो की अल्पशक्तिमत्ता का मनोरम निदर्शन है।

(3) कठ-उपनिषद् -

कृष्ण यजुर्वेद की कठ शाखाा का अनुयायी यह उपनिषद् अपने गम्भीर अद्वैत तत्त्व हेतु प्रसिद्ध है। इसमें दो अध्याय तथा प्रत्येक अध्याय में 3 बल्लियॉ हैं। तैत्तिरीय आरण्यक में संकेतित नचिकेता की उपदेश प्रद कथा से इसका आरम्भ होता है नचिकेता के आग्रह पर यम अद्वैत तत्त्व का मार्मिक उपदेश देते है। नित्यो मे नित्य, चेतनो में चेतन वह एक ब्रह्म सब प्राणियों की आत्मा में निवास करता है। यह सत्य इस उपनिषद् में बताया गया है।

(4) प्रश्न-उपनिषद् -

इस उपनिषद् में ब्रह्म विद्या की खोज में छः ऋषियों के पिप्पलाद ऋषि के समक्ष पहॅुचने का उल्लेख है। पिप्पलाद से ऋषियों ने अपने प्रश्नों के उत्तर पूछे। प्रश्नो के उत्तर मे निबद्ध होने के कारण इस उपनिषद् का सर्वथा सार्थक नाम प्रश्न उपनिषद् हुआ। पिप्पलाद एक उत्कृष्ट तत्त्वज्ञानी के रूप मे उपस्थित होकर प्रजा की उत्पत्ति कहाँ से होती है? कितने देवता प्रजाओं को धारण करते हैं? कौन इनको प्रकाशित करता है? तथा कौन इनमें श्रेष्ठ है? प्राणो की उत्पत्ति, शरीर में आगमन तथा उत्क्रमण सम्बन्धी प्रश्न, स्वप्न जागरण तथा स्वप्न दर्शन आदि विषयक प्रश्न, ओंकार पुरुष की उपासना तथा उससे लोकों का विजय और षोडश कला सम्पन्न पुरुष की विवेचना- इन प्रश्नों के उत्तर मे अध्यात्म की समस्त समस्याओ का विवेचन बड़ी गंभीरता से किया गया है। अक्षर ब्रह्म ही इस जगत की प्रतिष्ठा बतलाया गया है।

(5) मुण्डक उपनिषद्

यह अथर्ववेदीय उपनिषद् मुण्डक (मुण्डन सम्पन्न व्यक्तियो) के निमित्त निर्मित है। इस उपनिषद् में ब्रह्मा अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को ब्रह्म विद्या का उपदेश देते है। यज्ञीय अनुष्ठान अदृढ रूपप्लव है जिसके द्वारा ससार का संतरण कभी नहीं हो सकता। यज्ञादि अनुष्ठान को ही श्रेष्ठ मानने वाले व्यक्ति स्वर्ग लोक प्राप्त करने के बाद भी अन्तत· इस भूतल पर आते हैं। इसमें ब्रह्म ज्ञान की श्रेष्ठता प्रतिपादित है। 'सत्यमेव जयते' नारा इसी उपनिषद् से गृहीत है।

(6) माण्डूक्य उपनिषद्

माण्डूक्य उपनिषद् आकार में स्वल्पकाय किन्तु सिद्धान्त में विशालतम है इसमे मात्र 12 खण्ड अथवा वाक्य हैं। जिसमें चतुष्पाद आत्मा का मार्मिक एवं रहस्यमय विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस उपनिषद् को ओंकार की मार्मिक व्याख्या करने का श्रेय प्राप्त है। चैतन्य की 4 अवस्थायें जागरित, स्वप्न सुषुप्ति और चैतन्य की अव्यवहार्य तुरीय दशा का चित्रण किया गया है। आत्मा भी 4 प्रकार का होता है- वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ तथा प्रपञ्चोपशम रूपी शिव जिनमें अतिम ही चैतन्य आत्मा का विशुद्ध रूप है।

(6) तैत्तिरीय उपनिषद्

यह तैत्तिरीय आरण्यक का (सप्तम, अष्टम, नवम) खण्डो का सम्मिलित अंश है। आरण्यक के सप्तम प्रपाठक 'संहिता' के नाम से विख्यात है। यहाँ ब्रह्मानन्द बल्ली और भृगु बल्ली के नाम से यह विख्यात है। ब्रह्म विद्या की दृष्टि से वारुणी उपनिषद् की प्रधानता है परन्तु चित्त की शुद्धि तथा गुरुकृपा की प्राप्ति के लिए शिक्षा बल्ली का भी गौण

रूप से उपयोग है। कई प्रकार की उपासना, शिष्य-गुरु शिष्टाचार का इसमें सम्यक् निरूपण किया गया है। ब्रह्मानन्द बल्ली मे ब्रह्म विद्या का निरूपण किया गया है। इसके पश्चात् भृगु बल्ली मे ब्रह्म प्राप्ति का मुख्य साधन 6 पचकोश विवेक वरूण तथा भृगु के संवाद रूप से वर्णित हैं।

(8) ऐतरेय-उपनिषद्

ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के अन्तर्गत चतुर्थ से षष्ठ अध्याय ऐतरेय उपनिषद् कहलाते हैं। इसमें तीन अध्याय हैं, जिनके द्वितीय तथा तृतीय अध्याय एक-एक खण्ड के हैं। प्रथम अध्याय दो खण्ड का है जिसमें सृष्टि तत्त्व का मार्मिक विवेचन उपलब्ध होता है। मनुष्य का शरीर ही पुरुष के लिए उपयुक्त आयतन सिद्ध किया गया है, जिसके भिन्न अवयवों में देवताओ ने प्रवेश किया तदनन्तर परमात्मा उसके मूर्द्ध सीमा को विदीर्ण कर प्रवेश करता है तथा जीव भाव को प्राप्त कर भूतों के साथ तादात्म्य रखता है। तदनन्तर गुरु कृपा से बोध के अनन्तर सर्व व्यापक शुद्ध स्वरूप का साक्षात्कार होता है तथा उसे इन्द्र की संज्ञा प्राप्त होती है। अन्तिम अध्याय में प्रज्ञान की विशेष महिमा प्रदर्शित है। जिससे निःसन्देह यह उपनिषद् आदर्शवाद का प्रतिपादक सिद्ध होता है।

(9) छान्दोग्य उपनिषद्

यह सामवेदीय उपनिषद् प्राचीनता, गम्भीरता तथा ब्रह्मज्ञान प्रतिपादन की दृष्टि से नितान्त प्रौढ़ है। इसमें 8 अध्याय या प्रपाठक हैं। जिसमें तीन अध्यात्म ज्ञान की दृष्टि से नितान्त महत्त्वपूर्ण हैं। आदिम अध्याय में अनेक विधाओं का, ओकार तथा साम का गूढ़ स्वरूप विवेचित है। द्वितीय अध्याय के अन्त में शौव उद्गीथ है, जो केवल भौतिक

स्वार्थपूर्ति के लिए यागानुष्ठान तथा साम गायन करने वाले व्यक्तियो के ऊपर मार्मिक व्यंग्य है। तृतीय अध्याय मे सूर्य की देव मधु के रूप में उपासना है। गायत्री का वर्णन, आंगिरस के द्वारा देवकी पुत्र कृष्ण को अध्यात्म शिक्षा तथा अन्त में झण्ड से सूर्य के जन्म का सुन्दर विवेचन है। षष्ठ प्रपाठक छान्दोग्य का नितान्त महनीय अध्याय है जिसमें महर्षि आरुणि के ऐक्य प्रतिपादक सिद्धान्तो की रोचक व्याख्या है। अन्तिम प्रपाठक में इन्द्र तथा विरोचन की कथा है तथा आत्म प्राप्ति के व्यावहारिक उपायों का सुन्दर सकेत किया गया है।

(10) **बृहदारण्यक उपनिषद्**

इसमें छः अध्याय हैं। याज्ञवल्क्य की शिक्षा से यह ओत-प्रोत है। मृत्यु के द्वारा समग्र पदार्थ ग्रास किये जाते हैं, प्राण श्रेष्ठ है, सृष्टि विषयक सिद्धान्तों का रोचक वर्णन है। द्वितीय अध्याय के आरम्भ में अभिमानी गार्ग्य तथा शान्त स्वभाव काशी के राजा अजातशत्रु का रोचक संवाद वर्णित है। याज्ञवल्क्य का तत्त्वज्ञान बड़ा ही विशद, प्रामाणिक तथा तर्कपूर्ण है। उपनिषद् युग के वे सर्वमान्य तत्त्वज्ञ थे जिनके सामने ब्रह्मविद् जनक भी नतमस्तक होकर तत्त्वज्ञान सीखने से अलग नहीं होते। अध्यात्म शिक्षा का "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि" (वृहदा0 4/5/6)

इसके अतिरिक्त श्वेताश्वतर, कौषीतकि, संहितोपनिषद्, मैत्री अथवा मैत्रायणी, महानारायणोपनिषद् अथवा याज्ञिक्युपनिषद्, वाष्कलमन्त्रोपनिषद्, छागलेयोपनिषद्, आर्षेयोपनिषद् और शौनकोपनिषद् का उल्लेख किया जाता है किन्तु यहाँ मुख्य उपरिनिर्दिष्ट दश (10) उपनिषदों का विवेचनात्मक वर्णन करना मेरी दृष्टि से समीचीन था।

वेदाङ्ग

वेदाङ्ग का अर्थ है- वेद के अग अथवा वेदस्य अगानि। अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते एभिरिति अंगानि, अर्थात् वे उपकारक तत्त्व जिनसे वस्तु के स्वरूप का बोध होता है उन्हें वेदांग कहते हैं। प्रारम्भ में वेदाड्ग स्वतन्त्र विषय न होकर वेदाध्ययन के विशिष्ट उपयोगी प्रकार थे। बाद में चलकर वे स्वतन्त्र विषयों के रूप में विकसित हुए। सर्वप्रथम वेदांग के भेदो का उल्लेख मुण्डकउपनिषद् में अपरा विद्या के अन्तर्गत चार वेदों के नामोल्लेख के बाद हुआ है-

'तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पोव्याकरणं निरुक्तं छन्दो जयोतिषमिति।' (मुण्डक उपनि0 1-1-5)

वेदाड्ग छः माने जाते हैं- (1) शिक्षा (2) व्याकरण (3) छन्द (4) निरुक्त (5) ज्योतिष (6) कल्प।

शिक्षा व्याकरणं छन्दो निरुक्तं ज्योतिषं तथा।
कल्पश्चेति षडंगानि वेदस्याहुर्मनीषिणः।।

पाणिनीय शिक्षा में वेद पुरुष के 6 अगों के रूप में छः वेदांगों का वर्णन है- छन्द वेद पुरुष के पैर हैं, कल्प हाथ है, ज्योतिष नेत्र हैं, निरुक्त कान हैं, शिक्षा नासिका और व्याकरण मुख है।

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठयते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात् सांगमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

(पाणि0 शिक्षा श्लोक 41,42)

(1) **शिक्षा** - वेदाङ्गों में शिक्षा का अति महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा का अर्थ है- वर्णोच्चारण की शिक्षा देना। यह वेद रूपी पुरूष का घ्राण कही गयी है। सायण ने ऋग्वेद भाष्य भूमिका में शिक्षा का अर्थ इस प्रकार बताया है-

जिसके स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की शिक्षा दी जाती है, उसे शिक्षा कहते हैं। जिस प्रकार शरीर के अन्य अंगोपाग यदि परिपुष्ट और स्वस्थ हो पर घ्राण के बिना पुरुष शरीर नितान्त असुन्दर दिखता है। उसी प्रकार शिक्षा नाम वेदांग से विरहित होने पर वेद पुरूष भी वीभत्स अथवा अशोभन दिखायी पड़ती है। द्रष्टव्य है -

'स्वरवर्णाद्युच्चारणप्रकारो यत्र शिक्ष्यते उपदिश्यते सा शिक्षा।'

(सायण ऋग्वेदभाष्य0 पृष्ठ 49)

शिक्षा का उद्देश्य है - वर्णोच्चारण की शिक्षा देना, किस वर्ष का है, वण्र कितने हैं, उनका विभाजन किस रूप में होता है, कितने स्थान और प्रयत्न है, शरीर वायु किस प्रकार वर्ण रूप में परिवर्तित होती है, कितने स्वर हैं, किस स्वर का किस प्रकार उच्चारण किया जाता है, इत्यादि।

वेद के उच्चारण को ठीक-ठीक करने के लिए स्वर के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है स्वर तीन प्रकार के होते है- (1) उदात्त, (2) अनुदात्त (3) स्वरित। इनमें उदात्त ऊँचे स्वर से उच्चरित होता है अनुदात्त धीमे स्वर से उच्चारण किया जाता है तथा स्वरित, उदात्त और अनुदात्त के बीच की अवस्था का प्रतिनिधि है।

शिक्षा ग्रंथों का वैदिक संहिताओं से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसमें शुद्ध उच्चारण और स्वर संचार के नियम दिये है। इस विषय का विशेष वर्णन प्रातिशाख्य ग्रंथों में है।

वेदो को प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित होने के कारण इन्हें प्रातिशाख्य नाम से सम्बोधित किया जाता है। मुख्य प्रातिशाख्य ये है- ऋग्वेद आदि की पाणिनीय शिक्षा, शुक्ल यजुर्वेद की याज्ञावलक्य-शिक्षा, कृष्ण यजुर्वेद की व्यास-शिक्षा, सामवेद की नारद शिक्षा और अथर्ववेद की नारदीय शिक्षा इसके अतिरिक्त भारद्वाजशिक्षा, वशिष्ठ-शिक्षा, पाराशर-शिक्षा आदि ग्रंथ भी है। उपलब्ध शिक्षा ग्रंथो की सख्या 34 है।[1] इसमें पाणिनीय शिक्षा और व्यास शिक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण है।

तैत्तिरीय संहिता भारद्वाज-शिक्षा[2] से सम्बन्धित है। यह संहिता शिक्षा के नाम से प्रसिद्व हैं इसका प्रधान लक्ष्य संहिता के पदों की शुद्धता है तथा उसके लिए विशिष्ट नियमों का विवरण है और कहीं-कहीं विशिष्ट शब्दों का संकलन भी प्राप्त होता है।

तैत्तिरीय उपनिषद में शिक्षा के छः अगो का वर्णन है- वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान।

'वर्णः स्वरः मात्रा, बलम्, साम, सन्तानः, इत्युक्तः शीक्षाध्यायः।'

(तै0 उ0 1-2)

इनका संक्षेप में विवरण इस प्रकार है-

(1) वर्ण - संस्कृत वर्णमाला में 63 (संवृत अ को विवृत अ से पृथक् मानने पर 64 वर्ण) है। (त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शंभुमतेमताः पा0 शिक्षा 3)। वर्णमाला का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना अनिवार्य है।

---

[1] शिक्षा ग्रथो की सूची के लिए देखे आर्यमित्र वही सम्पादकीय पृ ज.झ

[2] भण्डारकर प्राच्य विद्यामन्दिर द्वारा प्रकाशित पूना, 1937

(2) वर्ण - उदात्त, अनुदात्त और स्वरित, ये तीन स्वर है। वेदों मे स्वर-भेद से अर्थ-भेद हो जाता है।

(3) मात्रा - स्वरों के उच्चारण में लगने वाले स्वरो को मात्रा कहते हैं। ये तीन हैं ह्रस्व दीर्घ और प्लुत की 3 मात्रा होती हैं।

(4) बल - वर्णों के उत्तवारण मे होने वाले प्रत्यय तथा उनके उच्चारण स्थान को बल कहते हैं। प्रयत्न 2 हैं - आभ्यन्तर और बाह्य। स्थान 8 हैं - कण्ठ तालु आदि।

(5) साम - समविधि से अर्थात् स्पष्ट एवं सुस्वर से वर्णोच्चारण। वर्णों का स्पष्ट उच्चारण हो, किसी वर्ण को दबाकर न बोले, बहुत शीघ्रता से न बोलें स्वर एवं अर्थ ज्ञान के सहित प्रत्येक वर्ण का स्पष्ट उच्चारण करें।[1]

(6) संतान - संहिता पाठ अथवा पढ़ पाठ में प्रयुक्त शब्दों मे सही नियमों का लगना। सन्धि नियमों का ज्ञान और उनका यथा स्थान प्रयोग करना।

शिक्षा चारों वेदो की भिन्न-2 शाखाओ से सम्बन्ध रखती है। शिक्षा संग्रह नामक ग्रंथ में प्रकाशित 22 शाखाओं का समुच्चय उपलब्ध होता है, ये 22 इस प्रकार हैं-

(1) याज्ञवल्क्य शिक्षा (2) वासिष्ठी शिक्षा (3) कात्यायनी -शिक्षा (4) पाराशरी-शिक्षा (5) माण्डव्य शिक्षा (6) आमोघ नन्दिनी-शिक्षा (7) माध्यन्दिनी-शिक्षा (8) वर्ण रत्न प्रदीपिका (9) केशवी शिक्षा (10) भल्लशर्म शिक्षा (11) स्वरांकश शिक्षा (12) षोऽश श्लोकी शिक्षा (13) अवसान निर्णय शिक्षा (14) स्वर भक्ति लक्षण शिक्षा (15) प्रतिशाख्य प्रदीप शिक्षा (16) नारदीय शिक्षा (17) गौतमी शिक्षा (18) लोमेशी शिक्षा

---

[1] पाणिनीय शिक्षा 31-33

(19) माण्डूकी शिक्षा (20) क्रमसन्धान शिक्षा (21) गलदृक-शिक्षा (22) मन· स्वार शिक्षा।

(2) व्याकरण -

व्याकरण को वेदपुरुष का मुख माना जाता हैं 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्। वस्तुतः मूल अभिव्यक्ति और विश्लेषण साधन है, तद्वत् व्याकरण भी पद-पदार्थ, तथा वाक्य-वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति तथा प्रकृति प्रत्यय के विश्लेषण का साधन है। इस प्रकार व्याकरण का तात्पर्य है - 'व्याक्रियन्ते विविच्यन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्। जिसके द्वारा प्रकृति प्रत्यय का विवेचन किया जाता है। यजुर्वेद में व्याकरण के सूक्ष्म् रूप का वर्णन है कि प्रजापति ने रूपों मे सत्य और अनृत (स्फोट और ध्वनि) का व्याकरण (विश्लेषण) किया। उसने असत्य में अश्रद्धा रखी और सत्य मे श्रद्धा की प्रतिष्ठा की।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापति :।

अश्रद्धामनृतेऽदधात्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापति·।।

कात्यायन और पतंजलि ने व्याकरण के पॉव प्रयोजन बताये है - (1) रक्षा (वेदो की रक्षा), (2) ऊह (यथास्थान विभक्तियों आदि का परिवर्तन, (3)) आगम (निष्काम भाव से वेदादि का अध्ययन), (4) लघु (सक्षेप में शब्द ज्ञान), (5) असन्देह (सन्देह निराकरण)।

रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्। (महाभाष्य आ01) पाणिनी ने अष्टाध्यायी में आपिशलि, काश्यप आदि 10 वैयाकरणों का उल्लेख किया गया है। प्राचीन ग्रंथों में महेश्वर, व्यादि आदि 15 वैयाकरणो का उल्लेख मिलता है। ऋक् प्रातिशाख्य, वाजसनेय0

और अथर्व0 आदि 10 प्रातिशाख्य ग्रन्थ प्राप्य है। इनके अतिरिक्त 6 अन्य वैदिक व्याकरण ऋक्तत्र, सामतत्र आदि मिलते हैं। इन ग्रथो मे प्राचीन 59 आचार्यो के नाम भी उद्धृत है।[1]

मैकडॅनेल ने भारतीय व्याकरण की पूर्णता और सर्वोत्कृष्टता की प्रशंसा करते हुए कहा कि - भारतीय वैयाकरणों ने जिस परिपूर्ण और अति विशुद्ध व्याकरण पद्धति को जन्म दिया है, उसकी तुलना विश्व के किसी देश में प्राप्य नहीं है।[2]

(3) छन्द - वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के लिए छन्दस् (छन्द) का सम्यक् ज्ञान रखना अनिवार्य है। इस हेतु कई ग्रन्थो की रचना हुई फिर भी अत्यल्प साहित्य ही उपलब्ध है।

यास्क ने निरूक्त(7-19) में छन्दस का निर्वचन छद् (ढकना) धातु से दिया है - छन्दांसि छादनात् अर्थात् छन्द भावों को प्रतिपादित करके सम्पूर्ण-रूप प्रदान करते हैं। कात्यायन में सर्वानुक्रमणी में छन्द का लक्षण दिया है। -यदक्षरपरिमाणं तच्छन्दः, अर्थात् संख्या विशेष में वर्णो की सत्ता छन्द है।

प्राचीन छन्दो-विषयक सामग्री अधोलिखित ग्रंथो में प्राप्त होती है। (1) शांख्यायन श्रौत सूत्र केवल (66 से26में), (2) ऋग्वेद प्रातिशाख्य(पटल) (16 से 18 मे), (3) सामवेद का निदान सूत्र (8) पिंगल प्रणीत छन्द सूत्र, (5) का त्यायन-कृत दो छन्दोऽनुक्रमणियाँ।

उपरिलिखित अर्थ की पुष्टि में दुर्गाचार्य ने यह उद्धृत किया है।

---

[1] विस्तृत विवरण के लिए देखे - कपिल देव द्विवेदी कृत सस्कृत व्याकरण की भूमिका पृ0 14-23।

[2] ए.ए मैक्डॉनेल - इण्डियाज पास्ट पृष्ठ 136।

'यदेभिरात्मानमाच्छादयन् देवा मृतयोर्विभ्यतः तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्। इसके केवल दो भेद पाये जाते हैं –[3]

(1) केवल अक्षर गणनानुसारी – इसमे केवल छन्दो मे अक्षर गणना की जाती है जिन छन्दों में पाद के विभाग की आवश्यकता नहीं रहती, वे केवल अक्षरगणनानुसारी माने जाते हैं

(2) पादाक्षरगणनानुसारी – इस प्रकार के छन्दों में अक्षरों के पादो में नियमतः विभक्त होने की व्यवस्था है अर्थात् वहॉ पाद में स्थित अक्षरो की गणना पर आग्रह है।

वैदिक छन्द वृत्तपरक (वर्णवृत्त) हैं। इसमें प्रत्येक पाद में वर्णों की संख्या निश्ति होती है। ऋक् प्रातिशाख्य के तीन पटलो में ऋग्वेद में प्रयोग किये छन्दों का विस्तृत विवेचन है। निदान सूत्र में वैदिक छन्दों के नाम और उनके लक्षण उद्धृत हैं। इसके अन्तर्गत छन्दों के अतिरिक्त सामवेदीय अंग उक्थ, स्तोम, गान का विशद वर्णन हैं पिंगल द्वारा लिखित छन्दः सूत्र के पूर्व भाग में वैदिक छन्दों का वर्णन है। उत्तर भाग में लौकिक छन्दों का विश्लेषण उनके द्वारा द्वारा किया गया है। कात्यायन कृत छन्दोऽनुक्रमणी मे ऋग्वेद में प्रयोग किये गये छन्दों की नामावलि है एवं उसी की सर्वानुक्रमणी के प्रारम्भ में 9 अध्यायों में पूर्णतः वैदिक छन्दों पर सूक्ष्म आलेखन अभिहित है। अक्षरगणनानुसारी छन्दों के उदाहरण अधोलिखित हैं।

(1) गायत्री (2) उष्णिक् (3) अनुष्टुप् (4) बृहती (5) पंक्ति (6) त्रिष्टुप् (7) जगती प्रमुख हैं।

---

[3]. यह वाक्य छान्दोग्य उपनिषद (1-4-2) मे भी पाया जाता है परन्तु दोनो के पढ़ने में अन्तर है किन्तु साराश एक समान है।

छन्द के सम्बन्ध मे ऋक्प्रातिशाख्य(161, 46,47) मे ऋग्वेद की सबसे बडी दो ऋचाओ का निर्देश किया है। (1) व्यूह न करने पर 'अवर्मह इन्द्र' (ऋ0 1/133/6) सबसे बड़ी ऋवा होगी जा भाष्यकार 'उव्वट' के अनुसार 60 अक्षरो वाली है। और विकर्ष करने पर। सहि शों न मारूत (ऋ0 1/126/6) सबसे बड़ी होगी जा उव्वट के अनुसार 76 अक्षरों की 8 पादों से युक्त ऋचा है।[1]

(4) निरुक्त -

इसमें वैदिक शब्दों के निर्वचन की पद्धति दी गयी है। वर्तमान में यास्क कृत (800 ई0पू0 के आस-पास) निरूक्त ही इस सम्बन्ध मे प्रामाणिक ग्रन्थ मिलता है। जो 'निघण्टु' नामक वैदिक शब्द-कोष पर आश्रित है एवं उसी का यह व्याख्यात्मक ग्रंथ है। इसके अन्तर्गत वैदिक मन्त्रों की निर्वचनात्मक व्याख्या का प्रथम श्लाघनीय प्रयास है। ऐसी वेदार्थ पद्धति को नैरूक्त पद्धति के नाम से जाना जाता है। यास्क महोदय ने वैदिक देवता वाची शब्दों यथा - अग्नि, इन्द्र, वरूण, सविता आदि को निर्वचनात्मक मानकर इनसे सम्बन्ध मन्त्रों को चार तरीके के अर्थ निरूपित किये गये हैं- आध्यात्मिक, आधिदैविक आधिभौतिक और अधियज्ञ। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यास्क की प्रक्रिया को प्रामाणिक माना है और उसी के अनुसार ऋग्वेद और यजुर्वेद का भाष्य किया है।

यास्क ने अपने पहीले के सत्रह (17) निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। जिसमें गार्ग्य, शाकपूणि, औदुम्बरायण आदि प्रमुख हैं। इसके प्राचीन टीकाकारों में - दुर्गाचार्य, स्कन्दस्वामिन, महेश्वर का नाम विशेष उल्लेखनीय है। निरूक्त के आलोचनात्मक

---

[1] वैदिक व्याकरण - डा0 रामगोपाल (द्वितीय भाग, 12 वॉ अध्याय, दिल्ली 1969)

संस्करण के प्रकाशन का कार्य डॉ0 लक्ष्मण स्वरूप को जाता है। निघष्टु मे पॉच अध्याय हैं- प्रथम तीन अध्याय मे पर्यायवाची शब्द-जैसे पृथ्वी वाचक - 21 शब्द, मेघ वाचक - 30 शब्द, वाणीवाचक - 56 शब्द, जल वाचक 100 शब्द। निरुक्त के प्रथम तीन अध्यायों में इन पर्यायवाची शब्दों की व्याख्या है। अतएव ए तीन अध्याय निघण्टु काण्ड के नाम से जाने जाते है। निघण्टु के चौथे अध्याय निघण्टु काण्ड के नाम से जाने जाते हैं। निघण्टु के चौथे अध्याय मे कठिन और अस्पष्ट वैदिक शब्द दिये गये हैं। इन शब्दो की व्याख्या एव स्पष्टीकरण निरुक्त के चार से छः अध्यायो में है। इसे नैगमकाण्ड या ऐकपदिक कहते हैं। निघण्टु के पाँचवे अध्याय में देवता-वाचक शब्द हैं। इनकी व्याख्या निरुक्त में 6 से 12 अध्याय के अन्तर्गत किया गया है, इसे दैवत-काण्ड कहा जाता है। इसके अन्तर्गत पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक के देवों के विषय में विशद विश्लेषण है। इसका एक परिशिष्ट भी 13वे अध्याय के नाम से मिलता है। इसके अन्तर्गत - अक्षर, सोम, जातवेदस् आदि का विवेचन है।

निरुक्त के 5 प्रतिपाद्य विषय हैं। जिसे - वर्णागम, वर्ण-विपर्यय, वर्ण. विकार, वर्ण नाश और धातुओं का अनेक अर्थों मे प्रयोग है।

"वर्णागमो वर्णविषर्ययश्च, द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ।

धातोस्तदर्धातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविधं निरूक्तम्।।"

निरुक्त - भाषा विज्ञान, अर्थ विज्ञान, शब्द व्युत्पत्ति एवं शब्द निर्वचन शास्त्र का प्रामाणिक एवं सर्वप्राचीन ग्रंथ है।

(5) ज्योतिष -

वैदिक यज्ञो के शुभ मुहूर्त - निर्धारण हेतु 'ज्योतिष' नामक वेदाङ्ग की आवश्यकता हुई। वेदाड्ग - ज्योतिष मे इसका वैशिष्ट्य बताया गया है कि यह शास्त्र यज्ञों का काल-विधान बतलाता है।

"वेदा हि यज्ञार्थमाभि प्रवृत्ताः कालानि पूर्वा विहिताश्च यज्ञाः।

तस्मादिदं कालविधान शास्त्रं, यो ज्योतिषं वेद सवेद यज्ञम्।।"

(वेदाग-ज्योतिष श्लोक 3)

'वेदाङ्ग - ज्योतिष' नामक एक ज्योतिष का प्राचीनतम ग्रंथ मिलता है। इसका सम्बन्ध दो वेदो से है। (1) यजुर्वेद से याजुष ज्योतिष, इसमे 43 श्लोक है। (2) ऋग्वेद से यार्च ज्योतिष इसमें 36 श्लोक हैं। इसके कर्त्ता आचार्य लगध माना जाता है। (कालज्ञानं प्रवक्ष्यामि लगधस्य महात्मनः; आर्च ज्योतिष श्लोक 2)। लोकमान्य तिलक डा0 थीबो, शंकर बालकृष्ण दीक्षित एवं सुधाकर, द्विवेदी आदि विद्वानों ने इसके श्लोकों की यथा-समय व्याख्या की है। ज्योतिष के सिद्धान्त ग्रन्थों की गणना इसके विभिन्न 12 राशियों से की जाती है किन्तु इस ज्योतिष में राशियों का कहीं नाम-निर्देश नहीं है, अपितु 26 नक्षत्र ही गणना के आधार हैं। शंकर बालकृष्ण दीक्षित महोदय ने वेदांग ज्योतिष का समय 1 400 ई0पू0 माना है।

वैदिक-ज्योतिष में सूर्य, चन्द्र ग्रह तथा नक्षत्रो की गति का निरीक्षण, परीक्षण एवं विश्लेषण किया जाता था। सूर्य और चन्द्र मासों की गणना की जाती थी। याज्ञिक कार्यों के लिए चन्द्र मास ही प्रमुख माना जाता था।

(6) कल्प -

वेदाड्ग साहित्य में कल्पसूत्र अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है। ब्राह्मण ग्रंथों मे यज्ञ इत्यादि का विधान इतना प्रौढ हो गया था कि कालान्तर में उनको क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करना आवश्यक हो गया। कल्प का अर्थ है - याज्ञिक विधियों का समर्थन और प्रतिपादन। 'कल्प्यते समर्थ्यते यागप्रयोगोऽत्र, इति व्युत्पत्तेः'।[1] कल्प की एक अन्य व्याख्या दूसरे तरह से की गयी है- जिसमें वैदिक कर्मों का व्यवस्थित रूप से वर्णन या प्रतिपादन होता है। 'कल्पो वेदविहितानां कर्मणामानुपूर्व्येण कल्पना शास्त्रम्'[2]

कल्पसूत्र 4 भागो मे विभाजित है - (अ) श्रौतसूत्र, (ब) गृह्यसूत्र, (स) धर्म-सूत्र (द) शुल्ब-सूत्र।

(क) श्रौत सूत्र - इसके अन्तर्गत ब्राह्मण ग्रथों में वर्णित और अग्नि महत्त्वपूर्ण वैदिक यज्ञों का क्रमशः विवेचन है। इन यज्ञो में कुछ इस प्रकार से हैं- पौर्णमास, दर्श, सोमयाग, सौत्रामणी, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि। इसके अलावा दक्षिण, आहवनीय और गार्हपत्य अग्नियों की इष्टियों का वर्णन है। प्रमुख श्रौत्र सूत्र कुछ इस प्रकार से हैं (1) ऋग्वेदीय - आश्वलायन और शांखायन। (2) शुक्ल यजुर्वेदीय - कात्यायन श्रौतसूत्र। (3) कृष्ण यजुर्वेदीय - बौधायन, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी या समयासाठ, वैखानास, भारद्वाज मानव और वाराह श्रौतसूत्र। (4) सामवेदीय आर्षेय या मशक, लाट्यायन, द्राहयायण और जैमिनीय श्रौतसूत्र (5) अथर्ववेदीय - वैतान श्रौतसूत्र।

---

[1] सायण - ऋग्वेद भाष्य भूमिका।

[2] विष्णुमित्र कृत ऋत्-प्रातिशाख्य की वृत्ति पृ0 13।

(ख) गृह्यसूत्र - गृह्य सूत्रो में 16 संस्कारो, 5 महायज्ञो, 6 पाकविधियो आदि का वर्णन है अर्थात् गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध सभी सस्कारो और विधियों का इनमें विवेचन है। प्रमुख गृह्यसूत्रों अधोलिखित है - (1) ऋग्वेदीय - आश्वलायन शांखायन एवं कौषीतकि गृह्यसूत्र। (2) शुक्ल यजुर्वेदीय - पारस्कर गृह्यसूत्र। (3) कृष्ण यजुर्वेदीय - बौधायन, आपस्तम्ब हिरण्यकेशी, भारद्वाज, मानव और काठक गृह्य सूत्र (4) सामवेदीय - द्राह्यायण, गोभिल, खादिर और जैमिनीय गृह्यसूत्र (5) अथर्ववेदीय - कौशिक गृह्यसूत्र।

(ग) धर्मसूत्र - धर्मसूत्रों मे धर्म, रीति, नीति, प्रथाओ एव चारों वर्णों और आश्रमों के कर्त्तव्यों और सामाजिक नियमों का विवेचन है। प्रमुख धर्मसूत्र अधोलिखित हैं। (1) ऋग्वेदीय बसिष्ठ और विष्णु धर्मसूत्र (2) शुक्ल यजुर्वेदीय - हारीत और शंख धर्मसूत्र, (3) कृष्ण यजुर्वेदीय - बौधायन, आपस्तम्ब और हिरण्यकेशी धर्मसूत्र (4) सामवेदीय - गौतम धर्मसूत्र।

(घ) शुल्बसूत्र - शुल्ब-सूत्रों मं यज्ञवेदी के निर्माण से संबद्ध नाप आदि का एवं वेदी के निर्माण के नियम एवं प्रक्रियाओं का विवेचन है। ये श्रौत सूत्रों से संबद्ध विषय का वर्णन करते हैं। इनमें भारतीय ज्यामिति के विकास का उत्कृष्ट रूप मिलता है। प्रमुख शुल्ब सूत्र अधोलिखित हैं - (1) शुक्ल यजुर्वेदीयकात्यायन शुल्बसूत्र, (2) कृष्ण यजुर्वेदीय - बौधायन, आपस्तम्ब और मानव शुल्व सूत्र।

मैक्डॉनेल महोदय ने शुल्ब सूत्रों का वैज्ञानिक महत्त्व स्वीकार करते हुए कहा है - 'इन सूत्रों में रेखागणित सम्बन्धी ज्ञान बहुत आगे बढा हुआ पाया जाता है। वस्तुत: शुल्ब सूत्र ही भारत के गणित-शास्त्रीय सर्वप्राचीन ग्रन्थ कहे जा सकते हैं।'[1]

अनुक्रमणिकाएँ -

वेदाङ्गों के अतिरिक्त वेदों से सम्बद्ध अनुक्रमणिकाएं भी है। इसमें ऋषियों, देवताओं एवं छन्दों से सम्बन्धित सूचियाँ प्रस्तुत की गयी हैं। ये ग्रंथ 'अनुक्रमणी' (सूची) के नाम से सुप्रसिद्ध है। यह अनुक्रमणी प्रत्येक वेद की उपलब्ध होती है। जिसमें अनेक ग्रंथों के प्रकाशित होने का विवरण मिलता है। इनके रचनाकारो मे शौनक और कात्यायन के नाम विश्वविश्रुत हैं। शौनक ने ऋग्वेद के तथा कात्यायन ने शुक्ल यजुर्वेद की अनुक्रमणी की संरचना की। यद्यपि इन्हें वेदाड्ग नहीं माना गया तथापि वेद की रक्षा और तद्गत आवान्तर विषयों के विवेचन हेतु इनका महत्त्व बढ़ता ही गया। ऋक् सर्वानुक्रमणी की वृत्ति की भूमिका में षड्गुरु शिष्य शौनक द्वारा ऋग्वेद की रक्षा के लिए जिन दश ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है उनके नाम क्रमानुसार प्रदत्त हैं - (1) आर्षानुक्रमणी (2) छन्दोऽनुक्रमणी (3) देवतानुक्रमणी (4) अनुवाक् अनुक्रमणी (5) सूक्तानुक्रमणी (6) ऋग्विधान (7) पादविधान (8) वृहद्देवता (9) प्रातिशाख्य एवं (10) शौनक स्मृति।

इन ग्रन्थों की पाँच अनुक्रमणियों में क्रमशः ऋग्वेद के दशों मण्डलों के ऋषियों, छन्दो, देवताओं, अनुवाकों एवं सूक्तों को संख्या, नाम तथा तद्विषयक उल्लेखनीय तथ्यों

---

[1] सस्कृत सा. का इतिहास, भाग 1 (हिन्दी) पृ0 245।

का क्रमनुसार विवरण अनुष्टुप् पद्यों में प्रस्तुत करती है। ऋग्विधान मे ऋग्वेदीय मन्त्रों का प्रयोग विशेष कार्य सिद्धि हेतु बतलाया गया है। सामवेद मे ठीक इसी पद्धति का ग्रथ है- सामविधान - इसमे साम का प्रयोग विविध अनुष्ठानो में विशेष फल की मनोकामना के लिए जाना जाता है। शौनकीय प्रातिशाख्य ऋग्वेद से ही सम्बन्ध रखता है जिसका वर्णन पहले ही किया गया है।

एतावता वैदिक वाड्मय के सामान्य परिचय शीर्षक में 4 वेदो, इनसे सम्बन्धित ब्राह्मण ग्रंथों, आरण्यकों एव उपनिषदों, शिक्षा व्याकरण, छन्द, निरुक्त, ज्योतिष तथा कल्प एवं वेद साहित्य की अनुक्रमणिकाओं पर संक्षेप मे अभिव्यक्ति की गयी है। यहॉ वैदिक ग्रन्थों की एक सारणी अवलोकनार्थ दी जा रही है। +

वैदिक ग्रन्थों की सूची -

वेद	शाखा	ब्राह्मण	आरण्यक	उपनिषद्
ऋग्वेद	1- शाकल* 2- वाष्कल	ऐतरेय ब्राह्मण कौषीतकि-ब्राह्मण (शांखायन ब्राह्मण कहते है।)	ऐतरेय आरण्यक शाखायन आरण्यक	ऐतरेय उपनिषद् {आरण्यक 2/4/6} 1. कौषीतकि उपनिषद् 2. वाष्कल मन्त्रोपनिषद्
सामवेद	1- कौथुम*	1- पञ्चविश (पौढ ताण्ड्य महाब्राह्मण) 2- षड्विश ब्राह्मण (अद्भुत ब्राह्मण अन्तिम प्रपाठक में है।) 3- सामविधान ब्राह्मण 4- आर्षेय ब्राह्मण 5- मन्त्र (उपनिषद्) ब्रा0 6- देवताध्याय ब्रा0 7- वंश ब्रा0 8- संहितोपनिषद् ब्रा0		छान्दोग्य उपनिषद् ब्राह्मण के अन्तिम आठ प्रपाठक
	2राणायनीय**	कतिपय सूत्र ग्रंथो मे ही रक्षित		केनोपनिषद् (ब्रा0 4/18/21)

	जैमिनीय*	1-जैमिनीय ब्राह्मण 2-जैमिनीय तलवकार 3-जैमिनीय उपनिषद् ब्रा0 छान्दोग्य ब्रा0		
कृष्ण-यजुर्वेद	1-तैत्तिरीय*	1क-तैत्तिरीय सहिता (ब्राह्मण भाग) 1ख-तैत्तिरीय ब्रा0 (सहिता भाग को छोडकर)	तैत्तिरीय अरण्यक	1 तैत्तिरीय उपनिषद (आरण्यक 7-9) 2 महानारायण उपनिषद् (आरण्यक 10)
	2-मैत्रायणी*	मैत्रायणी सहिता (ब्राह्मण भाग)		मैत्रायणी उपनिषद् (मैत्री उपनिषद्)
	3-कठ*	काठक सहिता (ब्रा0भाग)		कठोपनिषद्
	4कपिष्ठलकठ+	कपिष्ठल कठसहिता (ब्राह्मण भाग)		
	5-श्वेताश्वतर			श्वेताश्वतरोपनिषद्
शुक्ल-यजुर्वेद	1-काण्व*	शतपथ ब्राह्मण	वृहदारण्यक (ब्राह्मण का काण्ड17)	(1) ईशावास्योपनिषद् (सहिता 40 अ0) (2) बृहदारण्यकोपनिषद् (आरण्यक 3-8)
	2-माध्यन्दिन*	शतपथ ब्राह्मण	वृहदारण्यक (ब्राह्मण का काण्ड 14)	(1) ईशावास्योपनिषद् (सहिता 40 अ0) (2) बृहदारण्यकोपनिषद् (आरण्यक 4-9)
अथर्ववेद	1- पिप्पलाद+ 2- शौनक	गोपथ ब्राह्मण		प्रश्नोपनिषद् 1-मुण्डकोपनिषद् 2-माण्डूक्योपनिषद् 3-अनेक पिछले उपनिषद्

* पूर्णतया उपलब्ध ** अनुपलब्ध + अंशतः उपलब्ध

अध्याय - द्वितीय

'वैदिक देववाद' - विश्लेषणात्मक अध्ययन

यास्क, ब्लूमफील्ड, मैक्डॉनेल, कीथ के अनुसार देव विभाजन

महर्षि पाणिनि एवं निरुक्तकार के अनुसार आदित्य पद की व्युत्पत्ति

अध्याय - द्वितीय

वैदिक देववाद -

प्रकृति की विचित्र लीलाऍ मानव जीवन के पल-प्रतिपल के अनुभव का विषय रही हैं। इस वसुधा पर जन्म लेने के साथ ही शिशु अपने चतुर्दिक परिवेश से प्रकृति प्रदत्त कौतुको से अपने आप को घिरा हुआ पाता है। उषाकाल से प्रकृति प्रदत्त कौतुकों से अपने आप को घिरा हुआ पाता है। उषाकाल की लालिमा तथा सध्या का सिन्दूरी रंग उसे अतिशय प्रभावित करता है। बरसात मे नीले आकाश में विचरण करनेवाले काले-काले बादलों, के संघट्ट की गड़गड़ाहट सुनकर एव बिजली के कौंधने को देखकर उसे सुखद आश्चर्य होता है। प्रकृति की सुरम्यता के सन्निकट वैदिक कालीन मानव अत्यन्त सुखी एवं प्रसन्न था। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है। कालान्तर में उनकी आवश्यकताऍ बढ़ती गईं जिसके कारण उन्हें प्रकृति के साथ सामञ्जस्य बनाये रखने में कठिनाई अनुभव होने लगी। उन्होंने शनैः-शनैः आती हुई इन कठिनाइयों से विचलित होकर आर्तस्वर से अग्नि, पृथ्वी, वरुण, जल और आकाश आदि समीपस्थ तत्त्वों का आह्वान किया और उनसे सहायता की याचना की। आर्तभाव से किये गये दैन्य निवेदन पर 'देव' उन पर प्रसन्न हो गये और उनका सर्वविधकल्याण करने हेतु उद्यत रहने लगे। यह क्रम अनवरत रूप से चलता रहा। अपनी आयी हुई कठिनाइयों से निदान पाते हुए वैदिक जन इस निष्कर्ष पर पहुॅचे कि कोई न कोई ऐसी अज्ञात शक्ति है जो सकट के समय निवेदन करने पर उनकी सहायता में तत्पर हो जाती है। यहीं से आरम्भ हुआ श्रद्धा आस्था और विश्वास का क्रम और प्रादुर्भाव हुआ 'देववाद' का। पूर्व वैदिक

काल में बहुदेववाद का बोलबाला रहा और उत्तर वैदिक काल मे मनीषियो के चिन्तन, मनन के परिणाम स्वरूप यह बहुदेववाद अन्तत. एकदेववाद के रूप मे प्रतिष्ठापित हुआ।

सम्प्रति प्रत्येक मानव किसी न किसी देव विशेष से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही जुड़ा हुआ है, इसमे हमें बहुदेववाद की पूर्व-व्यवस्था की प्रतीकात्मक छाया का आभास होता है। इन देवों में कोई पुरुष देव है तो कोई स्त्री देवता; कोई अधिक प्रभावशाली है तो कोई अपेक्षाकृत कम प्रभावशाली; कतिपय एकल देव हैं तो कतिपय युगल देव भी हैं; कुछ पृथ्वी स्थानीय देव हैं; कुछ अन्तरिक्ष स्थानीय देव है तो कुछ द्युस्थानीय देव भी है। इसी प्रकार कुछ भौतिक एवं मानसिक देव है तो याज्ञिक एवं अयाज्ञिक देव।

देवों का विभाजन :-

विभिन्न भारतीय एवं कतिपय पाश्चात्य विद्वानों द्वारा वैदिक कालीन देवों का विभाजन अधोलिखित रूप से प्रस्तुत किया है। निरुक्त के रचनाकार, यास्क महोदय द्वारा वैदिक देवो को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

(1) पृथिवी स्थानीय देव - अग्नि

(2) अन्तरिक्ष स्थानीय देव - इन्द्र अथवा वायु

(3) द्युस्थानीय देव - सूर्य

अन्य सभी देव इनके सहयोगी हैं अथवा इनसे सम्बन्धित हैं। तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः। (निरुक्त - 6-5) यास्क महोदय ने - विभिन्न गुणों एवं कार्यों के कारण इन तीनो देवों की अनेक नामों से स्तुति की है।[1] देवों के

---

[1] तासा महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि व कर्म पृथक्त्वात् (निरूक्त 6-5)

आकार के विषय मे भी मतभेद मानते हैं, (1) कोई इनको अपुरुषाकृति मानते हैं, (3) कोई उभय रूप (पुरुष, अपुरुष) मानते हैं। तीनो प्रकार के मन्त्र वेदो मे प्राप्त होते है।

अथाकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुष विधा. स्युरित्येकम्।

चेतनावृद्धि स्तुतयो भवन्ति। . . . .अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्। अपि वोभयविधाः स्यु। (निरुक्त 6-5 से 6)

निरुक्त में इन देवों का किस लोक, किस सवन (यज्ञ), किस ऋतु, किस छन्द आदि से सम्बन्ध है, इसका भी वर्णन मिलता हैं वह सारणी के रूप में अधोलिखित है -

देवता	लोक	सवन	ऋतु	छन्द	स्तोम	साम	सम्बद्ध देवता
1. अग्नि	पृथिवी	प्रातः	वसन्त	गायत्री	त्रिवृत्	रथन्तर	इन्द्र, सोम,वरुण आदि
2. इन्द्र	अन्तरिक्ष	माध्यन्दिन	ग्रीष्म	त्रिष्टुप्	पंचदश	वृहत्	अग्नि, सोम, विष्णु, वरुण, आदि
3. सूर्य	द्युलोक	सायं	वर्षा	जगती	सप्तदश	वैरूप	चन्द्रमा, वायु, सम्वत्सर आदि

ऋग्वेद के अनुसार[2] - पृथिवी स्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय, द्युस्थानीय कुल

11 11 11 33 देव

[2] ऋग्वेद (1/139/11)

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार[1] -

वसु	रुद्र	आदित्य	इन्द्र	प्रजापति	कुल
8	11	12	1	1	33 देव

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार[2] -

सोमपदेव	असोमपदेव	योग
33	33	66 देव

ब्लूमफील्ड महोदय के अनुसार[3] -

ब्लूमफील्ड महोदय ने देवों को 5 भागो मे विभाजित किया है :-

1. प्रागैतिहासिक काल के देवता- द्यौ, वरुण, मित्र, अर्यमा।
2. अल्प पारदर्शीय अथवा अर्द्धस्पष्ट देवता- विष्णु।
3. पारदर्शीय या स्पष्ट देवता- अग्नि, उषस्, वायु, सूर्य।
4. अपारदर्शीय अथवा अस्पष्ट देव - इन्द्र, वरुण, अश्विन।
5. अमूर्त भावात्मक एवं प्रतीकात्मक देव- प्रजापति, बृहस्पति, विश्वकर्मा, काल, श्रद्धा, काम या निऋति आदि।

कीथ महोदय के अनुसार[4] -

इन्होंने देवों का विभाजन 4 भागों में किया है।

1. द्युस्थानीय एवं अन्तरिक्ष तथा पृथिवी स्थानीय देव।

---

[1] शतपथ ब्राह्मण - (11-6-3-5)
[2] ऐतरेय ब्राह्मण - (12-11-22)
[3] ब्लूमफील्ड ऋगवेद (पृ0 सं. 300)
[4] रिलीजन फिलासफी उपनिषद् एव इण्डि0 भाष्य।

2. लघु प्रकृत देव।

3. भाव देव।

4. विभिन्न देव प्राणियो का वर्ग।

मैक्डॉनेल महोदय के अनुसार[1] -

मैक्डॉनेल महोदय द्वारा सभी देवो को 8 भागों मे विभाजित किया गया है।

1. द्युस्थानीय देव - द्यौः, वरुण, मित्र, सूर्य, सवितृ, पूषन्, विष्णु, विवस्वत्, आदित्यगण, उषस्, अश्विनौ।

2. अन्तरिक्ष स्थानीय देव- इन्द्र, त्रित, आप्त्य, अपानपात्, मातरिश्वन्, अहिर्बुध्न्य, अजएकपात्, रुद्र, मरुद्गण, वायु (वात), पर्जन्य, आपः।

3. पृथिवी स्थानीय देव - नदियॉ, पृथिवी, अग्नि, बृहस्पति, सोम।

4. अमूर्तदेव - त्वष्टा, विश्वकर्मा, प्रजापति, मन्यु, श्रद्धा, अदिति, दिति।

5. देवियॉ - उषस्, वाक्, रात्रि, सरस्वती।

6. युगल देव इन्द्राग्नी, मित्रावरूणौ, इन्द्राविष्णू, अग्निषोमौ।

7. देवगण - रुद्राः, आदित्याः, विश्वेदेवाः, वसवः।

8. अवर देव - ऋभुगण, अप्सरस्, गन्धर्व, रक्षक देव।

वैदिक कालीन देव के विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्य इस प्रकार है-

1. ऋग्वेद कालीन देव प्राकृतिक वस्तुओं के मूर्त रूप है अर्थात् ये प्राकृतिक वस्तुओं के द्योतक हैं और इनका विश्लेषण व्यक्ति के रूप में ही किया गया है। सूर्य को इन्द्र और सूर्य कहा

---

[1] मैकडॉनेल (वैदिक माइथा लॉजी (हिन्दी) चौखम्भा सस्करण 1961)

गया है, भौतिक अग्नि को अग्निदेव, प्रचण्ड वायु को मरुत तथा प्रात कालीन उषा को उषा देवी।

2. ऋग्वेद में एक ओर बहुदेववाद को समर्थन प्राप्त है तो दूसरी ओर एकदेववाद का भी प्रबल समर्थन मिलता है।

3. ऋग्वेद में देवों मे सामान्यरूप से - पवित्रता, तेज, दया, वैदुष्य, हितकारिता जैसे आदर्श गुण विद्यमान हैं। इन्हीं गुणों के कारण वे एक दूसरे से पृथक् हैं।

4. युगल देवों का विवेचन भी देखने को मिलता है - जैसे इन्द्राग्नी के वर्णन में इन्द्र का विशेषण वृत्रहन् अग्नि के साथ प्रयुक्त मिलता है जबकि वृत्र का तात्पर्य 'पाप' से है। इन्द्र और अग्नि दोनों ही पापनाशक है, अतः अग्नि को भी वृत्रहा कहा जाता है।

5. ऋग्वेद मे देवों के माता पिता की भी कल्पना की गयी है। अदिति, द्यावापृथिवी आदि देवो के माता-पिता बतलाये गये हैं।

6. ऋग्वेद में शिव डरावने रुद्र के रूप में हैं।

7. ऋग्वेद में एक ओर वरुण जैसे सौम्य देव हैं तो दूसरी ओर मरुत जैसे रुद्र

8. ऋग्वेद में कहीं देव प्रतिमाओं का उल्लेख नहीं है और न ही उनके पूजा का । मैक्डॉनेल ने स्पष्ट किया है "ऋग्वेद में न तो कहीं देवताओं की प्रतिमा का विवेचन है और नहीं कहीं मन्दिरों का उल्लेख"।[1]

---

[1] स. साहितय का इति. (हिन्दी) भाग 1, 1962 पृ0 60

9. पिता-पुत्र सम्बन्ध के वर्णन से देवों के शरीर की भी कल्पना की गयी है और उनके अंगो प्रत्यंगों का वर्णन है - जैसे अग्नि के ज्वाला-पुज को उसका शरीर और लपलपाती लपटों को उसकी जिह्वा।

10. ऋग्वेद में सभी जगह आशावाद का संचार है - सभी देव आयुष्य अभ्युदय के दाता हैं केवल रुद्र से ही भय की कल्पना है।

11. ऋग्वेद में देवों की संख्या 33 बतायी गयी है। उन्हें 11 x 3 = 33 त्रिगुण एकादश भी कहा गया है।

वैदिक वाड्मय पर गहन चिन्तन-मनन करने वाले कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने वेदकालीन देवों और देवियों का जैसा चित्रण किया है, उनमें कही-कहीं पर उन्होने शब्दों के गूढ़ार्थ और वास्तविक अर्थ को न लेकर केवल शब्दार्थ मात्र करने से अर्थ का अनर्थ भी कर दिया है और कहीं पर तो उनका अर्थ अत्यन्त निम्न कर दिया है। इस विषय में ख्यातिलब्ध दार्शनिक और आलोचक डॉ. भीखनलाल आत्रेय ने वैदिक माइथोलॉजी (के हिन्दी अनुवाद) के प्राक्कथन में कुछ चेतावनी के शब्द कहे हैं, वे मनन योग्य हैं[1] -

"वे इसे पढ़कर ऐसा न समझ बैठें कि वैदिक धर्म और दर्शन का वास्तविक स्वरूप इतना और यही है, जो इस पुस्तक मे व्यक्त किया गया है। वेद के सम्बन्ध में आज का आलोचनात्मक ज्ञान बहुमुखी और अत्यन्त विस्तृत है। वेदों का अध्ययन करने वाले विद्वानों के अनेक सम्प्रदाय हैं, जिनमें से दो-तीन भारतीय विद्वानो के सम्प्रदाय ऐसे हैं जो प्रस्तुत ग्रंथ की स्थापनाओं के सर्वथा विरुद्ध हैं और जिनका अध्ययन तथा मनन भारतीयो के लिए, जो कि सदा से वेदों को अपने धर्म

---

[1] यास्क कृत निरूक्त (2 4.)

और दर्शन के चरण और पूर्ण ज्ञान का भण्डार मानते चले आ रहे है, अत्यन्त आवश्यक है। इन मतों का प्रतिपादन आधुनिक काल में श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती, श्री मधुसूदन ओझा तथा अरविन्द घोष ने अपने उत्कृष्ट ग्रंथों में किया है। सच्चे जिज्ञासुओं को सभी मतों को जानकर उनका तुलनात्मक अध्ययन करना उसके बाद ही अपना निर्णय करना चाहिए।''

आदित्य अदिति के पुत्र के रूप में चित्रित हैं।

दो अवखण्डने+क्तिन् = दिति

नञ्+दिति = अदिति

दिति का शाब्दिक अर्थ है बन्धन, इसलिए अदिति का अभेद अर्थ है बन्धनाभाव। अदिति बन्धन से मुक्ति दिलाने वाली देवी हैं। अदिति के प्रति भक्तो का भक्तिभाव प्रवण इस कथन से उनकी महत्ता स्पष्टरूप से उजागर होती है - मॉ तुम जगत के सभी पदार्थों में सर्वरूपात्मक शक्ति के रूप से विद्यमान रहती हो।

विश्वेदेवा सूक्त में -

''अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता

अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्।।''[1]

अदिति द्युलोक हैं। अदिति अन्तरिक्ष हैं अदिति माता है। वही पिता एवं वही पुत्र हैं। अदिति विश्वेदेव (सब देवता) तथा सब मनुष्य हैं। अदिति जन्म और जन्म का कारण है।

---

[1] विश्वेदेवा सूक्त (6.16 10)

प्रस्तुत मत्र मे 'पञ्चजना·' पद का प्रयोग आर्यों की पॉच जातियों में करणीय है। यास्क के मत मे गन्धर्व, पितर, देव, असुर एव राक्षस - 'पञ्चजना' मे आते हैं। औपमन्यव - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र एवं निषाद जाति को 'पञ्चजना.' मे स्वीकारते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में 'पञ्चजनाः' पद देव, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा और सूर्य तथा पितरों को समाहित किये हुए है।

पञ्चजन (ऋ0 3/37/9), पञ्चमानुषा (ऋ0 8/9/3),

पञ्चकृष्टि (ऋ0 2/2/10, 3/53/19), पञ्चक्षिति (ऋ0 1 /7/9),

पञ्चचर्षणि (ऋ0 5/86/2, 9/101/9) आदि के द्वारा पाँच जातियों का निर्देश उपलब्ध होता है।

पाश्चात्य विद्वानो का अभिमत है कि इस शब्द से समस्त मानव अथवा प्राणियों का ज्ञापन होता है। वस्तुतः उपरिकथित समस्त मत-वाद परिहेय हैं। उपरिलिखित निर्दिष्ट निखिल शब्द आर्यों की पाँच जातियों के ख्यापक है। वक्ष्यमाण मंत्र मे इनका एकत्र उल्लेख इसकी पुष्टि करता है।

देवों की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे मैक्डॉनेल महोदय ने 'वैदिक माइथोलॉजी' में 'त्रिस्तरीय उत्पत्ति' का वर्णन किया है।

1. अदिति से उत्पन्न देव।

2. जल से उत्पन्न देव।

3. पृथिवी से उत्पन्न देव।

सात अथवा (8) आठ देवों के समूह आदित्यों को अदिति का पुत्र बताते हैं।

वैदिक देवता : उद्भव और विकास नामक अपनी पुस्तक में डॉ0 गया चरण त्रिपाठी जी ने 'द्युस्थानीय देवता' शीर्षक में 'आदित्यों' की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विष्णु पुराण (1/15/131-133)

मारीचात् कश्यपाज्जाता आदित्या दक्षकन्यया।

तत्र विष्णुश्च शक्रश्च जज्ञाते पुनरेव हि।।

अर्यमा चैव धाता च त्वष्टा, पूषा, तथैव च।

विवस्वान् सविता चैव मित्रो वरुण एव च।।

अशुर्भगश्चातितेजा आदित्या द्वादश स्मृता।

द्वारा द्वादश आदित्यो के मारीच पुत्र कश्यप और अदिति से उत्पन्न होने की बात बतायी है।

श्री मद्‌भागवत महापुराण मे प्रदत्त है नाम अधोलिखित आदित्यों के .-

विवस्वानर्यमा पूषा त्वष्टाप सविता भग.।

धाता विधाता वरुणो मित्रः शक्रः उरुक्रम.।।

इन आदित्यों में विवस्वान्, अर्यमा, पूषा, त्वष्टा, आप, सविता, भग, धाता, विधाता, वरुण, मित्र, शक्र आदि का विवरण प्राप्त होता है।

पुरुष सूक्त में आदित्यो की उत्पत्ति के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए बताया गया है कि उस विराट पुरुष के नेत्रों से सूर्य की उत्पत्ति हुई है।

वैसे तो अदिति से उत्पन्न सभी देवता आदित्य कहलाते हैं तथापि द्वादश आदित्यों की उत्पत्ति के अनेक अन्य स्रोत भी उपलब्ध होते हैं। मत्स्य पुराण में तो इन आदित्यों की उत्पत्ति के विषय में यह श्लोक उदाहरणीय है :-

इन्द्रो धाता भगत्वष्टा मित्रोऽथ वरुणो यमः।

विवस्वान् सविता पूषा अंशुमान् विष्णुरेव च।।

मारीचात् कश्यपादाप पुत्रानदितिरुत्मान्।।

(मत्स्यपुराण 6/4,5)

महर्षि वेदव्यास ने महाभारत मे द्वादशादित्यो में जिन आदित्यों की गणना प्रस्तुत की है वे इस प्रकार है :-

'आदित्यां द्वादशदित्या सम्भूता भुवनेश्वराः।
धात्रा मित्रोऽर्यमा शुक्रो वरुणास्तंश एव च।।
भगो विवस्वान् पूषा च सविता दशमस्तथा।
एकादश तथा त्वष्टा द्वादशो विष्णुरुच्यते।।

(महाभारत 66/36-37)

परवर्ती महाभारत के खण्डो में (अनु0 150.15) में जयन्त को भी आदित्य के रूप में स्वीकार किया है।

अदिति को अनेक बार विपत्तियो (अंहस्) से रक्षा तथा पूर्ण सुरक्षा प्रदान करने वाला कहा गया है। (ऋ0 10,100,194) किन्तु अपराध अथवा पाप से मुक्ति दिलाने के लिए ही इसका अपेक्षाकृत अधिक बार आह्वान मिलता है। (1,24) इस प्रकार वरुण अग्नि और सवितृ का, अदिति के विरुद्ध अपराध करने से बचाने के लिए आह्वान किया गया है। अदिति, मित्र और वरुण का पाप क्षमा करने के लिए (2,26) और अदिति तथा अर्यमन् का पाप (के बन्धनों) को शिथिल करने के लिए स्तवन किया गया है। (7,93) स्तोतागण अपने को पापरहित करने के लिए अदिति की स्तुति करते हैं। (1,162) यह प्रार्थना की गयी है कि अदिति के विधानों का पालन करने वाले स्तोतागण वरुण के प्रति पाप रहित रहें (7,87) और दुरात्मा लोग अदिति से दूर हट जायें। इस प्रकार यद्यपि अन्य देवगण, अग्नि, सवितृ, सूर्य, उषस्, आकाश और पृथ्वी (10,35) आदि का पाप क्षमा करने के लिए आह्वान करने का प्रमाण मिलता है तथापि पापमुक्त करने की धारणा को अपेक्षाकृत कहीं अधिक

घनिष्ठ रूप से अदिति और उसके पुत्र वरुण के साथ ही सम्बद्ध किया गया है जिसकी पापियो को पाशबद्ध करना एक विशिष्टता है और जो पाप को एक रस्सी की भॉति खोलकर अलग कर देता है।

ऐसी धारणा बहुत कुछ इसके नाम की व्युत्पत्ति से सम्बद्ध है। 'दा' (वाँधना) धातु से व्युत्पन्न 'दिति' (बन्धन-यूनानी डे-सी-स,) से बना अदिति शब्द मुख्यतः एक सज्ञा है जिसका अर्थ 'खोलना' या 'बन्धनहीनता' है। इस क्रिया के भूत-कर्मवाच्य रूप का यूप से 'आबद्ध (दित) शुनः शेप का वर्णन करने के लिए प्रयोग किया गया है (5,2) अतः एक देवी के रूप में अदिति का, स्वभावतः, स्तोताओं को एक 'बद्ध' चोर की भाति बन्धन मुक्त करने के लिए ही आह्वान किया गया है (8,67)।

ऋग्वेद के प्राचीन पुरा कथाशास्त्र में अदिति, एक आदित्य के रूप मे दक्ष की माता हैं (2,26)

पुष्ट प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि अदिति की दो, तथा केवल दो ही प्रमुख चारित्रिक विशेषताएँ हैं। मातृत्व इनका प्रथम गुण है। यह एक ऐसे वर्ग के देवों की माता हैं जिनके नाम इससे निर्मित मातृनामोद्गत रूप मे ही व्यक्त हुए है। दूसरी प्रमुख विशेषता इसके नाम की व्युत्पत्ति के अनुकूल ही, दैहिक कष्ट तथा नैतिक अपराध के बन्धनों से मुक्त करने की इनकी शक्ति है। ऋग्वेद में कई स्थानों पर, आदित्यों के लिए व्यवहृत 'अदितेः पुत्राः' अदिति के पुत्र व्याहृति का, पूर्व वैदिक काल में वरुण तथा अन्य सजातीय देवों के एक प्रमुख गुण को व्यक्त करते हुए, केवल स्वतंत्रता के पुत्र (सहस पुत्राः अर्थात् शक्ति के पुत्र) अर्थ हो सकता है। ऐसी अभिव्यक्ति अत्यन्त सरलतापूर्वक अदिति का एक माता के रूप मे सम्भव बन सकती है।

इस विचार की अदिति 'बन्धन से मुक्ति' को धारणा का मूर्तिकरण है, वालिस और ओल्डेनवर्ग भी समर्थन करते है। मैक्स मूलर का विचार है कि एक प्राचीन देव अथवा देवी के रूप मे अदिति, खुली ऑखों को दिखायी पडने वाली पृथ्वी की सीमा से बाहर के असीम और अनन्त विस्तार, मेघों तथा आकाश को व्यक्त करने के लिए आविष्कृत प्राचीनतम नाम है। रॉथ पहले 'अनुलङ्घनीयता, अक्षयता आदि के अर्थ में व्याख्या करते हुए अदिति को 'अनन्त' की देवी के मूर्तिकरण का द्योतक मानते हैं। बाद में आपने आदित्यों अथवा दिव्यप्रकाश को धारण करने वाले चिरन्तन सिद्धान्त के रूप में इसकी व्याख्या की है आप इसे एक विशिश्ट नहीं वरन् केवल औपक्रमिक मूर्तिकरण मानते है। नैघण्टुक 'अदिति' को, पृथिवी, वाच, गो, और द्विवाचक द्यावा पृथिवी, के समानार्थी के रूप में रखता है। यास्क देवों की महान माता के रूप में अदिति की परिभाषा करते हैं और नैघण्टुक (5,5) का अनुसरण करते हुए इसे अन्तरिक्ष-क्षेत्र में स्थित करते हैं, जबकि आदित्यों को दिव्य क्षेत्र में और वरुण को दोनों ही क्षेत्रों में स्थित बताते हैं।[1]

सम्भवतः प्रकाशमान आदित्यों की माता के रूप में अदिति को कभी कभी प्रकाश से भी सम्बद्ध किया गया है। इससे प्रकाश की याचना (ऋ0 4.25) और इसके अक्षय प्रकाश की प्रख्याति की गयी है। (ऋ07,86,82) उषस् को अदिति का मुख कहा गया है। (1,113)। प्रायः अदिति का ऐसे सामान्य शब्दों में वर्णन मिलता है, जो अन्य देवो के लिए भी व्यवहृत हो सकते हैं अदिति मित्र और वरुण के साथ-साथ अर्यमन्, की भी माता हैं। (ऋ0 8.25, 8.47) अदिति का अपनी सन्तान आदित्यो के साथ नित्य आह्वान, यह व्यक्त करता है कि मातृत्व ही इसके चरित्र का अनिवार्य और विशिष्ट गुण है। इसकी 'पस्त्या' (ऋ0 4.55) उपाधि से भी सम्भवतः इसका मातृत्व ही उद्दिष्ट है।

---

[1] वैदिक मॉइथोलोजी मैक्डॉनेल (हिन्दी) अनुवादक - डॉ रामकुमार राय (पृ0 233)

महा काव्य और पुराणो के पुराकथा शास्त्र मे अदिति, दक्ष की पुत्री और सामान्य रूप से देवी की, तथा स्पष्ट रूप से विवस्वत्, सूर्य और वामन अवतार विष्णु की माता है। (वाजसनेयि, संहिता 29,60 और तैत्तिरीय संहिता 6.5) मे इसे विष्णु की पत्नी कहा गया है।

इन विभिन्न बिन्दुओ के परिशीलन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि अदिति ही आदित्यगण की मॉ है, और इनके पुत्र होने के कारण उन्हें आदित्य कहा गया।

आदित्य शब्द की व्युत्पत्ति

महर्षि पाणिनि की दृष्टि से

अदितेः अपत्यम् पुमान् आदित्यम्

अदिति की पुत्र सन्तान आदित्य

(अदिति देवों की माता)

अदिति शब्द से 'दित्य दित्यादित्य पत्युत्तरपदात् ण्यः'

(दिति = दैत्यो की माता), (अदिति= देवों की माता)

सूत्र से अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय की अप्राप्ति का अनुबन्ध लोप 'चुटु' सूत्र से इत् संज्ञा

अदिति + ण्य

लौकिक - विग्रह अदितेरपत्यम्

अलौकिक = अदिति + ङस् अपत्यम्

अदिति + ङस्+ण्य

' कृत तद्धित समासाश्च' से प्रातिपदिक सज्ञा अदिति + ङस्+य

'सुपोधातुप्रातिपदिकयो से सुप् डस् का लोप   अदिति+य

'तदितेष्वचाम् आदेः' सूत्र से आदि अच् स्वर को दीर्घ = अदिति+य

यचिभम् से भसंज्ञा तथा यस्यते च से लोप = आदित्+य

अञ्झीनं वर्णं परेण सयोज्यम् से स्वररहित व्यञ्जनों

को स्वर समवेत किया पद बना = आदित्य

प्रथम पुरुष एकवचन की विवक्षा मे सु = आदित्य+सु

स के उकार का उपदेश0 - से उत् सज्ञा

तथा तस्य लोपः से लोप

शेष रहा स्   = आदित्य+स्

ससजुषोरुः से रु आदेश = आदित्य + रु

उपदेशोऽननु0 से र के = आदित्य+र

उ की इत् संज्ञा तस्य लोपः से लोप

खरवसानयोर्विसर्जनीयः सं र् को विसर्ग आदेश = आदित्य+ः

यास्क महोदय के अनुसार - (आदित्यःकस्मात्?)

(आदित्य की व्युत्पत्ति)के चार निर्वचन किये गये हैः-

(1) वह 'आदत्ते रसान्' रसों (भूपृष्ठस्थ जल) का (भाप के रूप में) आदान करता है।

इसलिये आदित्य है (रस्वन् आदित्य इत्यादिभ्य)

यह अर्थ स्पष्टतः 'आ+√दा+य>आ+दा+त्य

(त् का आगम)> आदित्य निर्वचन को सूचित करता है।

(2) वह (आदत्ते मास ज्योतिषाम्) नक्षत्रो की कान्ति का आदान या हरण कर लेता है। क्योकि सूर्य के सामने सब नक्षत्रो की कान्ति फीकी पड जाती है, इसलिए वह आदित्य है ‘ ज्योतिषां भासमादत्ते इत्यादित्यः। यह अर्थ भी उपर्युक्त ‘आ+✓दा+य’ वाले निर्वचन को ही सकेतित करता है।

(3) ‘आदीप्तो भासेति वा’ वह अपनी कान्ति से, आभा से, सर्वत· दीप्त रहता है इसलिये आदित्य कहलाता है – स्वभाषा आदीप्यत इत्यादित्यः

इस अर्थ से ‘आ+✓दीप्+य>आ+दी+त्य

>आदित्य’ निर्वचन की सूचना मिलती है।

(4) ‘अदितेः पुत्रःइति‘ वह अदिति का पुत्र है इसलिये आदित्य है – अदितेः पुत्र इत्यादित्य·।

स्पष्टत· इससे ‘अदिति+य (पा0य0) निर्वचन अभिप्रेत हैं। पाणिनि को यही मान्य है।

■

अध्याय - तृतीय

'आदित्यगण- संख्या और उनके पृथक् कार्य'
विभिन्न आदित्यों पर आधारित तुलनात्मक विवरण

अध्याय - तृतीय

आदित्य संख्या और उनके पृथक् कार्य

आकाश मे अनेक दिव्य दैवी शक्तियॉ आभासित हैं। ऋग्वेद कालीन अनेक उत्कृष्ट देवों का सम्बन्ध आकाश से निर्विवाद रूप से रहा है। आकाश की इन दीप्तिमान शक्तियों मे 'आदित्य' का प्रमुख स्थान है। वैदिक कालीन विभिन्न ग्रंथों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर आदित्यो की चर्चा की गयी, किन्तु इनमे एकरूपता देखने में नहीं मिलती। विभिन्न साहित्यों में इनके अलग-अलग नाम एवं संख्या देखने को मिलती है।

वैदिक काल में शतपथ ब्राह्मण मे आदित्यो की सख्या 12 बतलायी गयी है पर वैदिक काल में प्रारम्भ में इनकी संख्या छ. ही बतायी गयी है -

'इमा गिर आदित्येभ्यतो घृतस्नूः सनाद्राजभ्यो ह्वा जुहोनि।

श्रृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस्तु विजातों वरुणो दक्षो अंशः[1] ।।

इसके नाम हैं - मित्र, वरुण, अर्यमा, भग, दक्ष तथा अश। एक स्थान पर यह संख्या बढ़ाकर सात कर दी गयी है पर यह नवीन प्रवेष्टा कौन है इसका उल्लेख नहीं किया गया 'देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभिरक्षणः[2]। इसके बाद एक अन्य स्थल पर अदिति के आठ पुत्र बताये गये हैं किन्तु यह कहा गया कि उनमें से वह सात को देवों के पास ले गयी और

---

[1] ऋग्वेद (2 26 1)

[2] ऋग्वेद (9 11 4.3)

आठवें मार्ताण्ड को, जो मृत अण्ड से उत्पन्न हुआ था, पृथ्वी पर ही छोड दिया, तथापि बाद में उसे भी अपना लिया।

अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जाता तन्वस्परि।

देवाँ उपप्रैत, सप्तभि· परा मार्तण्डमास्यत्।।

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुपप्रैत् पूर्व्य युगम्।

प्रज्ञायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्[1]।।

शतपथ ब्राह्मण[2] अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः -- मे कहता है कि "अदिति के आठ पुत्र थे किन्तु उनमे से सात ही आदित्य कहलाते थे। जो आठवां पुत्र मार्ताण्ड नामक अदिति ने उत्पन्न किया था वह हस्तपाद आदि अवयवों से रहित एक मांसपिण्ड था। आदित्यो ने देखा कि यह हम लोगों की आकृति से नहीं मिलता अतः उन्होने उसके अवयव आदि विभक्त किये। तब वह एक तेजस्वी मनुष्य रूप में परिणत हो गया। उसका नाम विवस्वान् हुआ और उससे सब मनुष्यों का जन्म हुआ।"

ऐसा ही एक प्रसंग तैत्तिरीय संहिता के (6.5.6.1) मे मिलता है अदिति के गर्भ से दूसरी बार अपरिपक्व अण्ड का जन्म हुआ (तस्यै व्यृद्धमण्डमजायत)। महाभारत के शान्तिपर्व में (243/57) कहा गया है कि अदिति ने देवों की विजय के लिए पकाये गये (यज्ञ) में से ब्रह्मचारी बुध को भिक्षा नहीं दी जिससे उन्होने अदिति को शाप दिया कि तुम्हारे गर्भ से एक मृत अण्ड का जन्म होगा। उस मृत अण्ड से उत्पन होने के कारण श्राद्धदेव संज्ञक विवस्वान्

---

[1] ऋग्वेद (10 62 8 9)

[2] श0ब्रा0 (3 1 3 3)

मार्तण्ड नाम से प्रसिद्ध हुए। मार्तण्ड की उत्पत्ति और व्युत्पत्ति के लिए पञ्चविंश ब्राह्मण (23/12/6) मे विस्तृत विवरण है।

अथर्ववेद की "अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्रा" (8/9/21) मे भी अदिति के आठ पुत्रों का उल्लेख मिलता है। तै0संहिता में भी मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अशु, भग, इन्द्र और विवस्वान् (मार्तण्ड) का उल्लेख है[1]। ऐतरेय ब्रा0 में भी (1/1/9/1) भी इन्हीं आठ आदित्यों का उल्लेख करता है।

तैत्तिरीय संहिता और ऐतरेय ब्राह्मण की इस सूची पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के (2/26/1) में प्राप्त दक्ष का नाम इस सूची में नहीं है इतना ही नहीं इसके अलावा धाता, विवस्वान् और इन्द्र ये तीन नये नाम और आ गये है ऐसा प्रतीत होता है कि इस समय तक अदिति दक्ष पुत्री के रूप मे प्रतिष्ठित हो चुकी थी अतः स्वाभाविक रूप से दक्ष का नाम अदिति के पुत्रों से निकाल दिया गया। ऋग्वेद में धाता के रूप में भी कोई स्पष्ट रूपरेखा नहीं मिलती किन्तु परवर्ती वैदिक सहिताओं में वह उन तीन चार महत्त्वपूर्ण देवों मे से एक हैं जिन्होंने आगे चलकर प्रजापति की उत्पत्ति मे योग दिया। इन्द्र ऋग्वेद में अन्तरिक्ष स्थानीय देवता थे, द्युस्थानीय नहीं।

शतपथ ब्राह्मण में, अभी तक निर्धारित की गयी आठ की संख्या बारह कर दी गयी किन्तु इनके नामों का अल्लेख नहीं किया गया है और ऐसा प्रतीत होता है कि शतपथ ब्रा0 में आदित्यों के स्वरूप के विषय में इससे अधिक कुछ नहीं जानता कि वे आकाश से सम्बन्धित

---

[1] ऋग्वेद 2 26 1 का सायण भाष्य। तेच तैत्तरीये अष्टौ पुत्रासो आदितेरित्युपक्रम स्पष्ट मनुक्रान्ता मित्रश्व वरुणश्च धाता च अर्यमा च अशुश्व भगस्व इन्द्रश्च, विवस्वाश्व एते इति।

है। यहा तक कि उनके अदिति के पुत्र होने का भी शत0 ब्रा0 में उल्लेख नहीं दिखता। शत0 ब्रा0 (6/1/2/8) उनकी व्युत्पत्ति के विषय में सयोग हुआ तो वह बारह बिन्दुओं से गर्भवती हो गयी। उससे द्वादश आदित्यो का जन्म हुआ जिन्हें प्रजापति ने दिशाओ, प्रतिदिशाओं में स्थापित किया। वास्तव में ब्राह्मणों की इस रहस्यात्मक शैली मे यह प्रजापति की मानसी सृष्टि का वर्णन है। सृष्टि उत्पत्ति की सर्वाधिक सरल व्यवस्था यह है कि प्रजापति ने मन मे जिस वस्तु का संकल्प किया और वाणी से उसे कह दिया वह उसी रूप में बन गयी।

स मनसा एवं वातं मिथुनं सम्भवत् सा द्वादश द्रप्सान् गर्भ्यभवत ते द्वाव्शादित्याः असृज्यन्त तान् दिव्युपाद्धात।

(श0 ब्रा0 6/1/2/8)

ऐतरेय ब्रा0 के (1,2,4) में भी द्वादश आदित्यों का उल्लेख मिलता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के एक प्रसंग में दिव् (चमकना) धातु से आदित्य शब्द की व्युत्पत्ति बतायी गयी है। व्याकरण की दृष्टि से यदि देखा जाय तो इसे शुद्ध नहीं माना जा सकता।

यह सम्भवतः आदित्यो के मूल स्वरूप के सर्वाधिक निकटस्थ है। क्योंकि यह सार्वभौम सत्य है कि आदित्यगण में परिगणित देवता अपने मूल रूप मे किसी न किसी प्रकार से इनका सम्बन्ध प्रकाश से रहा है। महाभारत काल में भी आदित्यों का यह स्वरूप बिल्कुल स्पष्ट था इसके आदिपर्व में (65/14-15) यह उल्लिखित है कि अदिति के गर्भ से प्रकट बारह आदित्य सूर्य के ही विभिन्न रूप हैं।

द्वादशैते समाख्याता आदित्याः सूर्यरूपिण.।

अदितेर्गर्भसम्भूताः सर्वदेवपुरोगमा.।।

पर जहॉ तक ब्राह्मण ग्रंथों में आदित्य शब्द की व्याख्या की गयी है वह इससे भिन्न है जैसे – श0ब्रा0 (11/6/6/8) में यह उल्लिखित है कि वर्ष के बारह मास ही बारहो आदित्य के नाम से जाने जाते हैं। ये मास विश्व की प्रत्येक वस्तु लेते (आददाना. व्याप्त करते हुए) जाते हैं इसीलिए इनको आदित्य कहते हैं। ऐसा ही विवेचन बृहदारण्यक उपनिषद् के (3/9/5) में भी मिलता है। 'कतमे आदित्या इति। द्वादशमासाः सवत्सरस्य एते आदित्या.। एते हि इद सर्वम् आददाना यान्ति। यद् इद सर्वम् आददाना यन्ति तस्माद् आदित्या इति।।''

उत्तरवर्ती हिन्दू धर्म में प्रलयकाल के अवसर पर प्रकाशित होने वाले बारह सूर्यों की कल्पना इन्हीं आदित्यों का ही विकसित रूप है। इस समय बाहर मासों को आदित्य मानने की कल्पना का उद्भव सम्भाव्य है कि अदिति को आनन्त्य अथवा निस्सीम काल का प्रतीत मानने से हुआ है। यदि अदिति उस समाप्तिहीन, निरन्तर प्रवाहमान समय को द्योतित करती है जिसकी इकाई वर्ष है तो अदिति के पुत्रों का वर्ष के बारह मासो से तादात्म्य हो जाना नितान्त स्वाभाविक है। विष्णु पुराण (2/10) में यह उल्लिखित है कि बारह मासों में सूर्य का रथ विभिन्न आदित्यों से अधिष्ठित होता है –

स रथोऽधिष्ठितो दवैरादित्यैर्ऋषिभि. तथा (2/10/2)

चैत्र में सूर्य के रथ को धाता, वैशाख में अर्यमा, ज्येष्ठ मे मित्र, आषाढ में वरुण, श्रावण में इन्द्र, भाद्रपद में विवस्वान्, आश्विन में पूषा, कार्तिक में पर्जन्य, मार्गशीर्ष में अश, पौष में भग, माघ में त्वष्टा तथा फाल्गुन में विष्णु विराजमान होते है। अत. स्पष्ट है कि वर्ष के विभिन्न मासों में सूर्य के ताप के विभिन्न रूप देखकर इन बारह रूपों को एक-एक मास से

सम्बन्धित कर लिया गया[1]। प्रो0 रॉथ ने आदित्यो के इतने भौतिक रूपो को स्वीकार नहीं किया है, इनके अनुसार आदित्य मुख्यत. भावनात्मक देवता है। अनन्तता रूपी अदिति तत्व को उनको धारण करता है। अदिति के पुत्र होने के कारण वे अनश्वर, शाश्वत और सनातन है। जिस अमर और अनश्वर तत्त्व मे वे आभासित है वह दिव्य (आकाशीय) ज्योति है। आदित्य न तो सूर्य का प्रतीक है न चन्द्रमा का और न ही तारों का; अपितु इस सम्पूर्ण भौतिक प्रकाश के पीछे जो एक अनन्त ज्योति तत्त्व है वे उसके धारण करने वाले हैं[2]।

आदित्यों के सम्बन्ध मे एक सम्यक् व्याख्या डॉ0 एच0डी0 ग्रिस वोल्ड[3] द्वारा कृत देखने को मिली। इनकी व्याख्या बड़ी ही सुरुचिपूर्ण एव सत्य से ओतप्रोत लगती है। इनके अनुसार सभी आदित्य वैदिक देवमण्डल के सर्वोत्कृष्ट एवं आदरणीय देवता वरुण के ही विभिन्न विशेषण मात्र है। सम्पूर्ण आदित्यो के लिए मिलकर वेदों में सम्भवतः ऐसी कोई बात नहीं कही गयी जो वरुण के लिए सत्य न हो। वरुण की भॉति वे भी नैतिक तत्त्वों से युक्त हैं। ऋत् की रक्षा करते हैं और पापों को क्षमा करते हैं। अत. प्रतीत होता है कि उनका कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है। वे वरुण के ही स्वरूप के विभिन्न विशेषताओं के मानवीकरण मात्र हैं और उसके ही महान व्यक्तित्व के अंश है। विभिन्न आदित्यों और वरुण के स्वरूप को मिला कर ही पूर्व-वैदिक काल के इस महान देवता का चित्र खीचा जा सकता है जो अपने उत्कर्ष के कारण वैदिक देवमण्डल में अप्रतिम था, और जिसके बनाये नियमों को तोड़ने की सामर्थ्य देवो

---

[1] हिन्दी धार्मिक कथाओ के भौतिक अर्थ - त्रिवेणी प्रसाद सिह (पृ0 46 48)

[2] त्साइटश्रिफ्ट डेडर डॉइशेन मार्गेनलैण्डिशेन गेलेजशाफ्ट भाग 6 पृ0 68.70

[3] दि रिलिजन आफ दि ऋग्वेद (पृ0 143 145)

में भी नहीं थी। मित्र शब्द मैत्री और सुलह का वाची है और वरुण के सामाजिक रूप को व्यक्त करता है। अर्यमा का अर्थ है सुदृढ़ अथवा वर का परिचित और यह वैवाहिक सम्बन्ध की पवित्रता का द्योतक है। भग का अर्थ है भाग्य अथवा सम्पत्ति और यह देवता वरुण का सौभाग्य प्रदायिनी प्रकृति तथा उदारता का बोध कराता है। दक्ष का अर्थ निपुणता या कौशल है और यही शब्द वरुण की शक्ति एव चातुर्य का परिचायक है। इसी प्रकार अंश शब्द का अर्थ भाग है और इससे प्रतीत होता है कि देवता वरुण किसी व्यक्ति को उसके प्राप्त अंश से विमुख नहीं करता-आदि। इस प्रकार सामूहिक रूप से आदित्यगण दिव्य ज्योति से सम्बन्धित होते हुए भी सत्य पवित्रता और ऋत के रक्षक भी हैं। वे भौतिक तथा नैतिक दोनों प्रकार के शाश्वत एवं अभंग्य सासारिक नियमों के संस्थापक है।

इस प्रकार आदित्यगण के सभी प्राचीन देवता अमूर्त भावों के मानवीकरण मात्र है। ऋग्वेद में ही उनका व्यक्तित्व अत्यन्त धुँधला है और बाद में तो उनका नाम-मात्र अवशिष्ट रह गया है।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के 26वें सूक्त मे आदित्यो की सामान्य विशेषताओ का पर्याप्त परिचय मिलता है। यहॉ उन्हें भास्कर पवित्र पाप तथा कलंक से रहित, अदम्य, विस्तृत, गंभीर, अवंचनीय तथा कई नेत्रो से युक्त कहा गया है-

आदित्यासः शुचयो धारपूता अवृजिना अनवद्या अरिष्टाः।।2।।

त आदित्यास उखो गंभीरा अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षा· ।।3।।

ऋग्वेद मे सूर्य के भौतिक रूपो से प्रत्यक्षतया सम्बन्धित देव का नाम 'सूर्य' ही है। सूर्य के रूप मे वैदिक ऋषियों ने संसार को प्रकाश देने वाले एवं प्रातः काल प्रत्येक व्यक्ति में नवशक्ति का संचार करके उसे कार्यों मे सलग्न कर देने वाले, आकाशस्थ ज्योतिष्पिण्ड का ही वर्णन किया है। सूर्य का भासमान मण्डल ही ऋषियों के सम्मुख प्रमुख रूप से वर्ण्य रहा है, उसका आधिदैविक रूप नहीं। सूर्य आकाश के पुत्र हैं (दिवस्पुत्राय सूर्याय शसत-ऋग्0 10.37.1) उनको अदिति का पुत्र या आदितेय भी कहा गया है (10.88.11) उनके उदय के अनन्तर ही मनुष्य के नेत्र सांसरिक विषयों को देख पाते हैं अतः वे प्राणियो के एक मात्र नेत्र है।

सूर्य के अनेक पर्यायवाची नाम है। उनमें से एक नाम 'आदित्य' भी हैं। सामान्यतया आदित्य शब्द से दो प्रकार के अर्थों का बोध होता है-एक अदिति को संतान दूसरा आदित्य की संतति। इस प्रकार 'आदित्य' शब्द अपत्यवाचक है। अदिति (कश्यप-पत्नी) देव-माता है। सब देवता उन्हीं की संतति माने जाते हैं। उन्हीं मे से एक आदित्य भी हुए (सप्त दिशो नाना सूर्याः सप्त होतार ऋत्विज.। देवा आदित्या ये सप्त तेभिः सोमाभि रक्ष न इन्द्रायेन्द्रो परि स्रव - ऋक्0 9.144.3) लोक और वेद में सूर्य नाम से उन्हीं का प्रतिपादन होता है। वेद में सात आदित्यों का उल्लेख मिलता है। वे क्रमशः मित्र अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष, अंश तथा मार्तण्ड हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थल पर मार्तण्ड को सम्मिलित कर उनकी सख्या आठ बतायी गयी है। साथ ही दूसरी जगह वहीं द्वादश आदित्यों का उल्लेख मिलता है। किन्तु उनके नामों का उल्लेख नहीं किया गया है। आगे चलकर विष्णु, वायु, ब्रह्माण्ड और मत्स्य पुराणों में द्वादशादित्यों को विष्णु, इन्द्र, अर्यमा धाता, त्वष्टा पूषा, विवस्वान्, सविता, मित्र, वरुण, अंशु तथा भग नामों से

अभिहित किया गया है। इन नामो से- मत्स्यपुराण के यम और अंशुमान् - ये दो विशिष्ट शब्दों में भिन्नता दिखायी पड़ती है। सूर्य के पर्यायवाची आदित्य शब्द का अर्थ पुराणों में विष्णु की शक्ति से संचलित हो आदित्यगण के रूप मे परिवर्धित हो गया है। तदनुसार ये आदित्यगण सूर्य के मण्डल को तेजो युक्त बनाते है[1]। इस प्रकार आदित्यगण देवपद को प्राप्त कर सूर्य के सहचर तथा सहयोगी ही नहीं रहे, अपितु आगे चलकर उनका तादात्म्य भी सूर्य से स्थापित हो गया।

इस प्रकार विभिन्न तथ्यों एवं साक्ष्यो के परिशीलन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि वैदिक काल में कुल आठ ही आदित्यगणों के नाम मिलते है। जिनका की विवेचन प्राप्त है। श0ब्रा0 में बारह आदित्य की संख्या अवश्य बतायी गयी हैं किन्तु उनके नामों का उल्लेख हमें नहीं मिलता। यद्यपि वैदिकोत्तर कालीन ग्रंथों मे हमें बारह आदित्यों के नाम मिलते हैं; फिर भी हम अपने क्षेत्र विस्तार को ध्यान मे रखते हुए वैदिक कालीन आदित्यगण जिनके नाम हमें प्राप्त हैं, की एक-एक करके उनके पृथक् कार्य एव स्वभाव की चर्चा करना चाहूँगी।

विवस्वान् -

यह शब्द प्रकाशमान होना, या चमकना अर्थ को 'वस्' धातु में 'वि' प्रत्यय लगाकर बना है। वस् धातु उषा शब्द के मूल में भी है। विवस्वान् शब्द का वास्तविक अर्थ है तेजस्वी। अतः इससे यह निश्चित तौर पर कहा जायेगा कि इस शब्द का मूलतः सूर्य से किसी न किसी रूप में सम्बन्ध था। अवेस्ता में वीवड्हूवन्तनामक देवता की प्राप्ति से इसकी प्राचीनता सुनिश्चित

---

[1] सूर्यमापादयन्तेते तेजसा तेज उत्तमम् (मत्स्यपुराण 126 25)

होती है। ऋग्वेद तक आते-आते इस देवता का मूल स्वरूप अधिकांशत लुप्त हो गया है और इसमे अनेक मानवीय गुण आ गये हैं।

इनकी भार्या का नाम सरण्यू है जो त्वष्टा की पुत्री है। उसने यम को अपने गर्भ से उत्पन्न किया है (यमस्य माता पर्युह्यमाना मही जाया विवस्वतो ननाश, ऋ0 10/17/1)। यम के लिए वैवस्वत विशेषण ऋग्वेद में ज्यादातर प्रयोग हुआ है (ऋ0 10.14.1) ऋग्वेद में सकेतित एक अन्य कथा के अनुसार विवस्वान् ने अश्विनो को भी अपनी इसी पत्नी से उत्पन्न किया है। (ऋ0 10.17.2) उन्हें मनुष्यो के आदि पूर्वज मनु का भी पिता कहा गया है (ऋ0 8/52/9)। अथर्ववेद (8/10/24) एवं श0 ब्रा0 (13/4/3/3) में भी मनु के लिए वैवस्वत् विशेषण प्रयोग किया गया है। इस प्रकार विवस्वान् इस सम्पूर्ण प्रजा के आदि-जनक हैं। इस बात को ध्यान में रखकर श0 ब्रा0 (3/1/3/4) तथा तै0 सं0 (6/5/6) में ऐसा कहा गया है कि सभी मनुष्य विवस्वान् की सन्तान हैं।

(1) स विवस्वान् आदित्यः तस्येमाः प्रजाः।

(2) ततो विवस्वान् आदित्यो अजायत तस्य वा इय प्रजाः यन्मनुष्याः

ऋग्वेद में एक स्थल पर (10/6/3/1) यहॉ तक कहा गया है कि देव भी विवस्वान् के पुत्र हैं अर्थात् उनको जनिमा विवस्वतः कहा गया है। जैसा कि पीछे वर्णन किया जा युका है अविकसित देह वाले मांस पिण्ड मार्तण्ड में जब अवयव आदि का विभाजन किया गया तो उसका नाम विवस्वान् पड़ा। (श0 ब्रा0 3/1/3/2-4)

ऋग्वेद में विवस्वान् के रहने का स्थान (सदन) का उल्लेख मिलता है जहॉ देवता आनन्द से विचरण करते हैं। (यस्मिन् देवा विदथे मादयन्ते विवस्वत· सदने धारयन्ते ऋ0 10/12/7)

अवेस्ता मे वीवङ्हृवन्त को इस जगत् में सर्वप्रथम यज्ञ करने वाला एव सोम (हओम) रस का सेवन करने वाला बताया गया है। ऋग्वेद के नवमण्डल मे भी अनेक प्रसंगों मे सोम का विवस्वान् से घनिष्ठ सम्बन्ध दर्शाया गया है। सोम विवस्वान् के साथ रहता है (संवसान विवस्वत· 9/26/4) और उनकी पुत्रियों (उॅगलियों) द्वारा परिशुद्ध किया जाता है। (9/14/5)।

जिस प्रकार ऋग्वेद में सूर्य देवता सूर्यमण्डल के नितान्त भौतिक स्वरूप का प्रतिनिधि है उसी प्रकार विवस्वान् उसके आधिदैविक स्वरूप का। प्राचीन काल मे ही आर्यों में सूर्य की जड-जगत् एवं मनुष्यों तथा देवो आदि के मूल-कारण के रूप मे मान्यता थी। विवस्वान् देवता के रूप में सूर्य के ऐसे ही रूप पर विशेष जोर दिया गया है। सृष्टि के आदि पुरुष या आदि चेतन प्राणी के रूप में ही उन्हे प्रथम यज्ञकर्त्ता तथा प्रथम सोमा भिषविता माना गया है। पुराणों में जहॉ सूर्य के मानवी या दैवी रूपो का वर्णन है, वहीं विवस्वान् एवं सूर्य के तादात्म्य के विषय में भारतीय साहित्य में कभी भी अस्पष्टता नहीं रही है। शतपथ ब्राह्मण (10/5/2/4) में कहा गया है कि इस सूर्य को ही विवस्वान् कहते हैं। क्योकि वह दिन और रात्रि को प्रकाशित या विभाजित करता है[1]।

"असौ वा आदित्यो विवस्वान्। एष हि अहोरात्रे विवस्ते।।"

---

[1] वैदिक देवता उ0 और वि0 लेखक डॉ जी सी0 त्रिपाठी पृ0 224

विवस्वत् और साथ ही साथ मातरिश्वन् को एक बार विवस्वत् का दूत कहा गया है (ऋ0 6/8/4) किन्तु अन्यथा अग्नि ही इनका दूत है (ऋ0 1/58/1, 4/7/4, 8/39/3, 10/21/5) विवस्वत् के ऋषि के रूप में एक बार अग्नि की अपने पितरो (अग्नि उत्पन्न करने वाली लकड़ियॉ, अरणि) द्वारा उत्पन्न होने की बात कही गयी है। (ऋ0 5/11/3)

विवस्वत् की सर्व सम्भाव्य व्याख्या यही प्रतीत होती है कि यह मूलत. उदित होते हुए सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है। अधिकांश विद्वान तो केवल इसकी सूर्य के रूप में ही व्याख्या करते हैं। कुछ लोग इसे प्रकाश मय आकाश का देवता अथवा सूर्य का आकाश मानते हैं। वर्गेन का विचार है कि केवल अग्नि ही, जिसका ही एक रूप सूर्य है, यज्ञकर्त्ता के उस चरित्र के लिए उत्तरदायी हो सकता है जिसकी विवस्वत् में प्रधानता है।

अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों में विवस्वान् का महत्त्व उत्तरोत्तर घटता चला जा रहा है और गृह्य सूत्रों में तो इनका उल्लेख भी नहीं प्राप्त होता।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व वैदिक काल मे विवस्वान् एक प्रमुख देव था किन्तु कालान्तर में इनका महत्त्व कम होता चला गया जो बाद के साहित्यों में इन्हें आंशिक रूप से ही उल्लेखित होना इसका प्रमाण है।

<u>सविता -</u>

ऋग्वेद के सौर देवों में सम्भवतः सविता देव का स्थान काफी ऊँचा है। यह शब्द 'सू' धातु से बना है। जिसके तीन अर्थ होते है, प्रेरित करना, उत्पन्न करना तथा रस निकालना

लेकिन इसके सम्बन्ध में सम्भवतः प्रथम अर्थ प्रेरित करना ही समीचीन है। प्रातः कालीन सूर्य के विभिन्न कर्मों मे प्रेरक तथा सद्विचारो के उद्बोधक स्वरूप को ही सविता नाम से याद किया जाता था। सुप्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में बुद्धि को सत्कर्मों की ओर प्रेरित करने हेतु इन सविता देव की ही स्तुति की गयी है।

तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि।

धियो यो नः प्रचोदयात्। (ऋग्वेद 3/62/10)

वर्तमान सन्दर्भ मे सविता देव के जिस उत्तम तेज (वरेण्यं भर्ग) का उल्लेख किया गया है उससे इनका प्रकाश से सम्बन्ध स्पष्टतः लक्षित होता है।

प्रातःकाल के सूर्य से सम्बन्ध होने के कारण स्वभावतः सविता का सुनहले रंग या स्वर्ण से विशेष सम्बन्ध है। उन्हें हिरण्याक्ष (1/35/8), हिरण्यपाणि (1/35/9), हिरण्यस्त (1/35/10), हिरण्यबाहु (6/71/1), हिरण्यजिह्व (6/71/3) कहा गया हैं। उनके केश भी स्वर्ण के रंग के ही है (हरिकेशः 10/139/1)। उनके पास एक स्वर्णरूप रथ (1/35/2) जिसमें जुएँ एवं अन्य जुड़ित सामग्री भी स्वर्ण की बनी हुई है। (1/35/2)

सविता के बाहुओं का उल्लेख विशेष रूप से मिलता है। वे अपनी भुजाओं को उठाकर मनुष्यों को विभिन्न कर्मों में प्रेरित करते है। (प्र बाहू अस्त्राक् सविता सवीमनि निवेशयन् प्रसुवन् अक्तुभि· जगत् ऋ0 4/53/3) उनके ये बाहु अखिल भुवन की अन्तिम सीमा तक व्याप्त हो जाते हैं (ऋ0 2/38/2 एवं 4/53/4) निश्चित तौर पर यहाँ सूर्य की रश्मियों (किरणो 'कर') का उल्लेख है।

सूर्य एवं सविता का तादात्म्य ऋग्वेद के कई मन्त्रों में उल्लिखित है (ऋ0 4/14/2) मे यह उल्लेख है कि सविता ने अपनी ज्योति को पृथ्वी से अत्यन्त ऊपर स्थापित किया है और सूर्य अपने प्रकाश से अन्तरिक्ष एवं पृथिवी तथा आकाश को व्याप्त करते हैं।

ऊर्ध्वं केतु सविता देवो अश्रेत् ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन्।

आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः।।

ऋ0 10/158/1-4 तथा 1/135/1-11 में यह उल्लेखित है कि सविता एव सूर्य को एक ही माना गया है। तथा दो अन्य स्थानों पर सूर्य को ही 'मनुष्यों का प्रसविता' होने का उल्लेख किया गया है, जो उन्हे कर्मों की ओर प्रेरित करता रहता है।

उद्वेति प्रसविता जनानां महान् केतुरर्णवः सूर्यस्य। ऋ. 7/63/2

नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः ....।। ऋ. 7/63/4

किन्तु देवों के रूप मे सूर्य और सविता का अलग-अलग अस्तित्व होने के कारण किसी-किसी जगह दोनों को एक ही स्थान पर स्वतन्त्र रूप से भी उल्लेखित किया गया है (जैसे - ऋ0 1/35/9, 1/123/3, 5/81/4 आदि)

इतना ही नहीं कहीं-कहीं पर तो पूषा, भग एवं मित्र आदि अन्य सौर देवों से भी सविता का तादात्म्य किया गया है। स नः पूषा अविता भुवद् (3/62/9), उत पूषा भवसि देव यामभिः (ऋ. 5/81/5), उत् मित्रो भवसि देव धर्मभिः (5/81/4), सुवाति सविता भग. 5/82/3 तथा उदुष्य देवः सविता ययाम .... भगो हव्यो मानुषेभिः (7/38/1) आदि मन्त्र इसके प्रमाण हैं।

सायण ने ऋ0 की व्याख्या (5/81/4) में लिखा है कि सूर्य को उदय से पूर्व सविता कहते हैं और उदय से अस्त तक सूर्य -

उदयात् पूर्वभावी सविता। उदयास्तमयवर्ती सूर्य.।

तथा निरूक्तकार यास्क का मत है कि सविता का समय वह है जब आकाश में उजाला हो जाता है और प्रकाश की रश्मियॉ आकाश मण्डल में विकीर्ण होने लगती है-

तस्य कालो यदा द्यौः अपहततमस्का आकीर्ण रश्मिर्भवति।

किन्तु ऋग्वेद के कुछ मन्त्रो मे (जैसे 2/38/1) सविता का सायकालीन सूर्य से सम्बन्ध का उल्लेख किया गया है। वे मनुष्यो एवं पशुओ को सुलाते भी हैं। और जगाते भी (निवेशने प्रसवे चासि भूमनः, 6/71/9) वे अश्वों को रथों से मुक्त कराते हैं और पथिकों को विश्राम देते हैं (ऋ0 2/38/3) सविता का सूर्यास्त से सम्बन्ध होने के कारण शतपथ ब्राह्मण मे से तादात्म्य करते हुए पश्चिम दिशा का सविता से विशिष्ट सम्बन्ध माना गया है। "प्रतीचीमेव दिशम्। सवित्रा प्राजानन्नेष वै सविता य एष तपति। तस्मादेष प्रत्यड् एति। प्रतीची हि एतेन दिश प्राजानन्। प्रतीची हि एतस्य दिक्"।

(श0ब्रा0 3/2/3/18)

'सू' धातु का अर्थ उत्पन्न करना भी होता है। अतः सविता का अर्थ संसार का उत्पादक मानकर वैदिक साहित्य में कहीं-कहीं इन्हे प्रजापति भी कहा गया है। ऋ. 4/53/2 में सविता के लिए प्रजापति विशेषण आता है (दिवो धर्मा भुवनस्य प्रजापति.) शतपथ ब्राह्मण में (12/3/5/1) कहा गया है कि जो सविता है वही प्रजापति है (यो हि एव सविता स

प्रजापति.) और तैत्तिरीय ब्राह्मण (1/6/4/1) में कहा गया है कि प्रजापति ने सविता होकर इस प्रजा का निर्माण किया (प्रजापति. सविता भूत्वा प्रजा असृजत। तैत्तिरीय सहिता 2/1/6) मे सविता को प्रसव अथवा प्रजाओं का अधिपति कहा गया है (सविता ह वै प्रसवानामीशे)। ऋग्वेद में प्रजापति-त्वष्टा को भी दो स्थानों पर, सविता कहा गया है। देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः, 3/55/19।

ऋग्वेद में और तैत्तिरीय संहिता मे एक साथ मानव रूपी प्रजाजन सविता देव से अभ्यर्थना की गयी है।

अचिती यच्चकृमा देव्ये जने दीनैर्दक्षैः प्रभूति पुरुषत्वता।

देवेषु चे सवितर्मानुषेसु च त्वं नो उत्र सुवता दनागस.।।

(ऋ. 4/54/3, तै0 सं0 4/1/11)

हे सविता ! आपका जीवन दिव्य गुणों से भरा हुआ है हम अज्ञानवश या असावधानी के कारण आपके प्रति अपराध एवं श्रद्धा-निष्ठा में प्रमाद कर देते हैं। हमारे दुर्बल पुत्र-पौत्रादि अपराध कर देते हैं। फलतः उनके अपराध से हम भी (विशेष) अपराधी हो जाते हैं। यही क्यो, हम अपनी चतुराई ऐश्वर्य या पौरुष के मद से अन्य देवों या मनुष्यों के प्रति (भी) अपराध कर देते हैं। आप उन सब प्रकार के अपराधो को क्षमा कर हमे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दीजिए।

इन विश्लेषणों से यह स्पष्ट होता है कि सविता शब्द मूल रूप से विश्व मे जीवनी शक्ति एवं स्फूर्ति के प्रदायक तथा कर्मों में प्रेरक सूर्य का एक विशेषण मात्र था परन्तु बाद मे

वह अपने महत्त्व के कारण अपने भौतिक रूप से पृथक होकर एक सूक्ष्म देवता बन गया। 'सू' धातु का मूल अर्थ 'प्रचोदित करना' या 'आगे ठेलना' प्रतीत होता है जिससे दो भाव प्रकट होते है- सामान्य अर्थ में गर्भस्थ शिशु को जन्म देना (षूङ् प्राणिप्रसवे) और सूक्ष्म अर्थ मे 'प्रेरित करना' (षू प्रेरणे)। सविता के प्रसग मे दोनो अर्थ सुरक्षित हैं परन्तु श्रेष्ठता दूसरे अमूर्त भावनात्मक अर्थ की है। 'सू' से निष्पन्न प्रसविता प्रसव, आसुवत्, सवाथ, सोषविति, आसुव तथा परासुव आदि सभी शब्दों मे प्रेरित करने का भाव निहित है।

वास्तव में परवर्ती युग मे सविता की केवल यही एक विशेषता मुख्यत· रह जाती है। सविता वै देवानां प्रसविता, यह वाक्य ब्राह्मण ग्रंथो में प्रायः सभी जगह पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण में ही यह वाक्य 100 से अधिक बार प्रयोग किया गया है। इस पर सायण ने लिखा है कि देवानां मध्ये सविता खलु प्रसविता, स्व-स्व व्यापारेषु सर्वस्य लोकस्य प्रेरयिता, सूते प्रेरयतीति सविता इति तन्नामव्युत्पत्ते·। मत्स्य पुराण मे भी सविता शब्द की व्युत्पत्ति दी गयी है। इसके अनुसार, यह शब्द स्रु-झरना (स्रवण) धातु से बना है। इससे (सूर्य से) तेज विकीर्ण होता रहता है इसलिए इसे सविता कहते हैं -

श्रवति स्यन्दनार्थेषु धातुरेष निगद्यते।

स्रवणाात् तेजसश्चैव तेनासौ सविता स्मृतः।।

(125/37)

यजुर्वेद संहिता में जहाँ कहीं यजयान या ऋत्विक आदि के द्वारा किसी भी यज्ञ पात्र के ग्रहण करने का विधान है, इसमें प्राय. यह कहा जाता है कि तुम्हें सविता की प्रेरणा से ग्रहण कर रहा हूँ (देवस्य त्वा सवितु. प्रसवे गृहणामि, वाज0स0 1/10)।

ब्राह्मण ग्रथों में सविता और सूर्य का पूर्ण तादात्म्य प्राप्त होता है। दोनों की एकता पूर्णरूपेण प्रतिष्ठापित हो चुकी है। श0 ब्रा0 3/2/3/18, 4/4/1/3 और 5/3/1/7 आदि में यह कहा गया है कि 'आकाश में तपने वाला,' एवं 'विचरण करने वाला' सविता है- 'एष वै सविता य एष तपति। एति वा एष। पुनः 2/6/3/8' मे यह उल्लेख किया गया है कि - 'एष वा सूर्यो य एष तपति,' अतः दोनों का साम्य सुस्पष्ट है। सूर्य अग्नि का ही आकाशस्थ रूप है, अतः श0 ब्रा0 6/3/1/6 में सविता को भी अग्नि कहा गया है। 9/2/3/12 में सविता, आदित्य एवं अग्नि तीनों का तादात्म्य प्राप्त होता है अग्नि ही आकाशस्थ सूर्य है और यही सूर्य रश्मि तथा स्वर्ण केश सविता आकाश की अस्त्र ज्योति का उत्पादक है।

"असौ वा आदित्य एषो अग्नि.। एष सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात् सविता एनद् ज्योतिः उद्यच्छति अजस्रम्।"

शतपथ ब्रा0 मे एक स्थल पर कहा गया है कि सविता का पश्चिम दिशा से विशेष सम्बन्ध है (3/2/3/18) "सविता आकाशवर्ती आदित्य है, वह सदा पश्चिम की ओर जाता है, पूर्व की ओर कभी नहीं, क्योंकि वह उस दिशा का स्वामी है।"

सविता को (इन्द्र तथा अग्नि के साथ) ब्रह्मचारी का रक्षक माना गया है उनका वर्षा ऋतु से विशेष सम्बन्ध होने का आख्यान है (श0 ब्रा0 12/8/2/33) पर उनका मुख्य कार्य

विभिन्न कर्मों मे मनुष्यों को प्रेरणा देना ही है, उन्हे स्थान-स्थान पर सत्य प्रसविता कहा गया है। (कौ0 ब्रा0 5/2/6/14 तथा तै0 सं0 1/8/19) और श0 ब्रा0 13/4/2/6 में उनके प्रसविता, आसविता तथा सत्य प्रसविता ये तीन रूप माने गये हैं एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि मनुष्य का मन ही सविता है क्योकि वही सदसत् कर्मों में प्रेरित करता है (मनो व वास्य सविता 6/3/1/13)

जिस प्रकार यजुर्वेद मे सविता को पवित्रकारी माना गया है उसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में 3/1/3/22 में कहा गया है कि जिनको सविता पवित्र कर देते हैं वह अत्यन्त पुनीत हो जाता है।

तद वै सुपूतं यं देवः सविता पुनातु। तस्मादाह देवो मा सविता पुनातु।

ऐतरेय ब्राह्मण (6/4/2) में सविता और सूर्य का पूर्णतः तादात्म्य होने का उल्लेख मिलता है। यहां यह कहा गया है कि जिस दिन यजमान यज्ञ में दीक्षित होता है उस दिन प्रातःकाल उसे उदीयमान सूर्य की उपासना करते हुए (उद्यन्तम् आदित्यम् उपतिष्ठेत्) कहना चाहिए, "देवसवितर्देवयजनं मे देहि"। आगे यह भी कहा गया है कि सविता द्वारा अनुमत व्यक्ति की कोई हानि नहीं होती और वह उत्तरोत्तर बढ़ने वाली लक्ष्मी को तथा प्रजाओं के ऐश्वर्य को प्राप्त करता है।

(उत्तरोत्तरिणीं ह श्रियमश्नुते, अश्नुते ह प्रजानामैश्वर्यम्)

सविता द्युलोक में प्रकाशित होने वाली अमर एव दिव्य ज्योति है। यह मनुष्यो पशुओ तथा पौधो को वसु तथा तेज प्रदान करता है। जिसे यह कम तेज प्रदान करता है, वह अल्पायु होता है और जिसे अधिक तेज प्रदान करता है, वह दीर्घायु -

"तदेतत् वसु चित्रं राध.। तदेष सविता विभक्ताभ्य प्रजाभ्यो विभजति। भूय इव ह त्वेकाभ्यः प्रयच्छति कनीय इवैकाभ्यः। तद् याभ्यो भूयः प्रयच्छति ता ज्योक्ततमां जीवन्ति। याभ्यः कनीयः, कनीयस्ता.।"

(शत0 ब्रा0 10/2/6/5)

गृह्यसूत्र में यह उल्लेख किया गया है कि सविता का व्यक्तित्व शिक्षार्थी एवं ब्रह्मचारियों की रक्षाकरने के रूप में है। उपनयन संस्कार के अवसर पर गुरू शिष्य के कंधे पर हाथ रखकर कहता है कि मैं तुमको सविता के संरक्षण में रखता हूँ (देवाय त्वा सवित्रे परिददामि गोभिल 2/10/32) सविता ही बालक के हृदय एव मस्तिष्क में सद्विचारों की उत्पन्न करके बौद्धिक एवं नैतिक उत्कर्ष के लिए उसे सामर्थ्य प्रदान करते है। उपनयनसंस्कार के उपरान्त तीन रात्रि तक सविता को इसीलिए बालक पक्व आदान-प्रदान करता है। नक्षत्रों में हस्तनक्षत्र सविता को विशेष प्रिय है। अतः उसी दिन अध्ययन आरम्भ किया जाता है और किंचित् किसी कारण, किसी दुःस्वप्न या अमंगल के वशीभूत बालक का ध्यान पढ़ाई से उचट जाता है तो सविता की प्रार्थना की जाती है। (दुःस्वप्नेन अद्य नो देव सवितर् इति एताम् ऋचं जपेत् गोभिल0 3/3/32)।

शुक्ल यजुर्वेद मे सविता के लिए सत्य-सव या सत्य-प्रसव विशेषण अधिकतर देखने को मिलता है। उसी में उनकी एक विशेषता वस्तुओ तथा मनुष्यो को पवित्र करना भी हैं। देवस्त्वा सविता पुनातु (1/3) देवो मा सविता पुनातु अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः_(4/4) आदिमन्त्र इसके उदाहरण है।

वे हिरण्यपाणि हैं (1/16) वे प्राणियो को चैतन्य करने वाले, सर्वज्ञाता बुद्धिप्रदाता कर्मों में प्रेरक तथा धनदाता कहे गये हैं (22/11-14)। सविता का सूर्य से भी तादात्म्य किया गया है (यजु0 17/58) तथा उन्हे यज्ञपति कहकर उनसे यज्ञ की रक्षा करने की प्रार्थना की गयी हैं (एते ते देव सवितर्यज्ञं प्राहुःतेन यज्ञमव ....2/12)। एक अन्य मन्त्र (<u>रक्षा माकिर्नो अद्य शंस ईशत</u> यजु0 33/69) में उनसे अपनी सामान्य रक्षा करने की प्रार्थना की गयी है। 4/25 मे उन्हें आकाश में विद्यमान, दिव्य, बुद्धिदाता, सत्य प्रेरणा वाले रत्नों के धाम तथा असीमित द्युति वाला कहा गया है।

अथर्ववेद 7/25/1 में भी सविता को सत्यधर्मा कहा गया है। वे सत्य के पुत्र (सत्यस्य सूनुः), सुन्दरवाणी से युक्त, युवक तथा कल्याणकारी है। उनकी प्रेरणा से ही मनुष्य कर्म करते है (देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः 6/23/3) इनका जन्म हिरण्यवर्ण के पवित्र जल में हुआ है। (हिरण्यवर्णा शुचयः पावका· यासु जात· सविता, अथर्ववेद 1/63/1)। वे मंगलमय देव हैं और विश्व का कल्याण करते हैं (देव· सुकृत सविता विश्ववार·, 5/27/3)। ऋग्वैदिक अग्नि की ही भाति इन्हें 'कविक्रतु' (अत्यधिक ज्ञानी या उच्च विचारों से पूर्ण) एवं 'रत्नधाम' (धनो के अधिष्ठाता) एवं सत्यसव कहा गया है (अ0वे0 7/14/1) अ0वे0 7/16/1 में इनसे

प्रार्थना की गयी है कि वे उपासक की उन्नति करें उसे सौभाग्य प्रदान करें और तेजस्वी बनाये (सवितर्वर्धयैन ज्योतयैन महते सौभगाय)। सविता, स्त्रियो के शरीर से बुरे लक्षणों का शमन करते हैं (अ0वे0 2/28/1) और उन्हें सुन्दर पति की प्राप्ति कराते हैं (अ0वे0 2/36/8)। दीर्घायु बनाने के लिए भी सविता से प्रार्थना की गयी है (3/11/4) । वे अपशकुनों को भी दूर करते हैं (19/8/4)। उनसे वनों मे भ्रान्त पशुओं को पुन. गोष्ठ में वापस लाने की प्रार्थना की गयी है (सह यन्तु पशवो ये परेयु. अस्मिन् तान् गोष्ठे सविता नियच्छतु 2/26/1)।

सविता को पितरो के लिए भी विशेष रूप से कल्याणकारी कहा गया है (हिरण्यकेशी 2/5/3) सविता की प्रेरणा प्राप्त करने वाला पितरों को पुरोडास प्रदान करता है और सविता उसे पितामह तथा प्रपितामह के लिए ग्राह्य बनाते है (ऋ0वे0 10/17/7 जहॉ सविता का पितरों से सम्बन्ध है)। यज्ञादि कर्मों में सविता की प्रेरणा या अनुमति तो प्राय. सर्वत्र प्राप्त ही की गयी है (देव सवित. प्रसुवेति, गोभिल 1/3/4)।

सूर्य प्रत्यक्ष देव हैं। अन्य सभी देव अपने-अपने लोक मे स्थित हैं जहॉ अन्य देवो का दर्शन प्राप्त करने में कठोर साधना अपेक्षित है, वहीं सूर्यदेव से हमारा नित्य साक्षात्कार होता है। गायत्री मन्त्र में जिस सविता का स्मरण किया गया है वह कोई नहीं वरन् सूर्य (आदित्य) ही हैं।

'आदित्योऽपि सवितैवोच्यते' निरुक्त दैवतकाण्ड (4-31)

'असौ व आदित्यो देवः सविता' (शतपथ ब्रा0)

'स्कन्द महापुराण मे सविता की गायत्री के साथ एकरूपता वतायी गयी है। दूसरे शब्दो में सविता सूर्य का शरीराभिमानी देवता है। पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म अर्थ काम और मोक्ष मे सर्वाधिक दुर्लभ मोक्ष सविता की आराधना से ही प्राप्त होता है। सूर्यदेव का इस प्रस्रवणी शान्ति सविता की उपासना ही ब्रह्म साधना है।

सविता के समग्र विवेचन एव विश्लेषण से सम्भवत. यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, जैसा कि मैक्डॉनेल महोदय ने स्पष्ट किया है कि- "सविता मूलतः भारत मे ही व्युत्पन्न एक उपाधि है जो कि विश्व की अन्य सभी गतियो मे प्रमुख और महत्त्वपूर्ण गति का प्रतिनिधित्व करने वाले और जीवन तथा गतियों के महान प्रेरक के रूप मे सूर्य के लिए, प्रयुक्त हुई है; किन्तु सूर्य से भिन्न होने के रूप मे यह एक अपेक्षाकृत अधिक अमूर्त देव है। वैदिक कवियो की दृष्टि में यह सूर्य की मूर्तिकृत दिव्य शक्ति है जबकि स्वय सूर्य एक अपेक्षाकृत अधिक स्थूल देव हैं और उनकी धारणा में सूर्य पिण्ड की बाह्य आकृति का अभाव कभी भी अनुपस्थित नहीं है क्योंकि 'सूर्य' नाम तथा भौतिक सूर्य में समानता है"। (तु0 की0 1/35/9, 124/1)

पूषा -

पूषन शब्द पुष् धातु से बना है और इसका अर्थ है पोषक, पुष्ट करने वाला। ऋग्वेद मे यह देवता सूर्य की कल्याण-कारिणी एव मनुष्यों को पुष्ट करने वाली शक्ति का प्रतीक है। उनके पुष्टिम्भर तथा पुरुवसु आदि विशेषण इस ओर संकेत करते हैं। वे अत्यधिक धन के स्वामी हैं (ईशानं राधसो महः ऋग्वेद- 6/55/2)। वे धन की धारा तथा वसुकी राशि प्रदान करते है।

ऋग्वेद मे यह शब्द 100 से अधिक बार आता है और आठ सम्पूर्ण सूक्तों (जिनमे से पॉच छठवें दो पहले और एक दसवें मण्डल मे है इनकी प्रख्याति है। युगल देव के रूप मे भी इनकी एक सूक्त (6/56) मे इन्द्र के साथ और दूसरे (2/40) मे सोम के साथ उल्लेखनीय है। इस प्रकार सख्या की दृष्टि से इनका स्थान विष्णु की अपेक्षा कुछ ऊँचा है। कालान्तर मे वैदिक और वैदिकोत्तर काल में इनके नाम का उल्लेख उत्तरोत्तर दुर्लभ होता गया है। इनकी वैयक्तिकता अस्पष्ट है। और इनकी मूर्तीकृत प्रवृत्तियॉ अत्यन्त अल्प हैं। जब समूह को पदाक्रान्त करने की इनसे स्तुति की गयी है तब इनके पैरो का उल्लेख है। इनके दाहिने हाथ का भी उल्लेख मिलता है (ऋ0 6/54/10)। इनके केश भी वेणीयुक्त हैं (ऋ0 6/55/2) तथा इन्हें दाढ़ी भी है ऐसा उल्लेख (ऋ0 10/26/7) है। ये एक स्वर्ण तोमर धारण करते है (ऋ0 1/42/6)। एक आरा तथा अंकुश भी रखते है (6/53/5-8, 6/53/9, 6/58/2)। इनके रथ के पहिये चक्र-धार, और बैठने के स्थान का उल्लेख है (ऋ0 6/54/3) और इन्हे सर्वश्रेष्ठ रथी कहा गया है (6/56/2-3) इनका रथ अश्वो के स्थन पर बकरो (अजाश्व) द्वारा खींचा जाता है (ऋ- 1/38/4, 6/55/3-4)। ये भोजन करते हैं, क्योंकि उष्णिका इनका भोज्य पदार्थ बताया गया है (6/56/1 तु0 की0 3/52/6)।

यह विश्व का अवलोकन करते हुए आगे बढ़ते हैं औरआकाश मे अपना आवास बनाते हैं (2/40/5-6, 6/58/2) ये सभी प्राणियो को स्पष्ट रूप से तथा एक साथ देखते हैं (ऋ0 3/62/9)। इन्हें सभी 'जंगम एवं स्थावर' का अधिपति कहा गया है और प्रायः इन्हीं शब्दों मे सूर्य का भी वर्णन किया गया है (ऋ0 1/115/1; 7/60/2)। यह ऐसे रक्षक हैं जो सविता

की प्रेरणा से कार्य करते हैं एव प्रत्येक प्राणियो को देखते एवं जॉचते हैं। इनकी स्तुति मे अर्पित एक सूक्त में उत्कृष्ट रथी के रूप मे पूषा के सम्बन्ध मे यह कहा गया है कि इन्होनें सूर्य के स्वर्ण चक्र को नीचे की ओर हॉका (ऋ0 6/56/3) यद्यपि यह सम्बन्ध अस्पष्ट है (तु0 की0 निरुक्त 2/6) केवल पूषा के लिए ही एक बहु प्रयुक्त उपाधि 'आघृणि' है। इन्हे एक बार 'अगोह्य' (जो छिपाया न जा सके) कहा गया है, जो वस्तुत. यह सविता का ही गुण है।

अत्यधिक दूरी के रास्तों पर, "आकाश और पृथिवी के सुदूर पथ पर पूषा का जन्म हुआ है; यह दोनो ही प्रिय आवासो को जानते हुए उनमें जाते हैं और वहॉ से वापस होते है (ऋ. 6/17/6)। पथों से इस प्रकार परिचित होने के कारण यह दूरस्थ पथ पर स्थित पितरो के आवास तथा मृतकों को उसी प्रकार पहुँचा देते है । जिस प्रकार अग्नि और सवितृ भी इन मृतको को उस लोक तक ले जाते है जहॉ मृत पुण्यात्मा लोग जाकर देवों के साथ रहते हैं ; साथ ही पूषा अपने उपासकों को भी उसी लोक तक पथ प्रदर्शन करते हुए पहुँचा देते है (ऋ. 10/17/3-5)

पथो के मर्मज्ञ होने के कारण पूषा गुप्त देवों तक को पहुँच और सुगमतापूर्वक खोज लेने के अनुकूल बना देते हैं (ऋ. 6/48/15)। पूषा को पथों के रक्षक के रूप में प्रकल्पना की गयी है। सकटों, मार्गतस्करों, भेड़ियो आदि को मार्ग से हटा देने के लिए इनकी स्तुति की गयी है (ऋ. 1/42/1-3)। यह प्रत्येक पथ के रक्षक और अधिपति हैं (ऋ. 6/49/8, 6/53/1)। ये पशुओ के पीछे-पीछे चलकर उनकी रक्षा करते हैं। इसी प्रकार सूत्रों मे भी जो यात्रा के लिए अग्रसर होता है वह ऋग्वेद के (6/53/1) मन्त्र का पाठ करते हुए मार्ग निर्माता

पूषा की पूजा करता है और जो कोई अपना पथ भूल जाता है वह भी पूषा की ही शरण लेता है (आश्वलायन गृह्य सूत्र 3/7/89 एव शाखायन श्रौतसूत्र 3/4/9)। इसके अलावा प्रात. एव सायकाल सभी देवो और प्राणियो को समर्पित उपहारों में से अपना हिस्सा मार्ग निर्माता पूषा स्वय घर के दरवाजे पर आकर ले लेते है (शांखायन गृह्य-सूत्र 2/14/9)

वैदिक साहित्य में केवल पूषा से जुड़ी हुई उपाधियॉ इस प्रकार बतलायी गयी है - आघृणि, अजाश्व, विमोचन, नपात्, विमुचो, अनष्ट वेदस् (किसी भी श्रेष्ठता को नष्ट न होने देने वाला), करम्भाद (उष्णिका खाने वाला, अनष्ट पशु (किसी भी पशु को नष्ट न होने देने वाला, पुष्टिम्भर (समृद्धिदायक)

उपलब्ध प्रमाणों से यह स्पष्ट नहीं हो जाता कि पूषा-देव किसी नौसर्गिक घटना का प्रतिनिधित्व करते है या नहीं। परन्तु प्रारम्भ मे ही ऐसा उद्धृत किया गया है कि - अधिकांश स्थलों पर सूर्य से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध का संकेत मिलता है। यास्क भी (निरुक्त 7,9) 'सभी प्राणियों के रक्षक सूर्य (आदित्य)' के रूप में पूषा की व्याख्या करते है, और वैदिकोत्तर साहित्य में पूषा कभी-2 सूर्य के नाम के रूप में ही आता है। पृथिवी से देवो और मृत पुण्यात्माओं के आवास द्युलोक तक जाने वाला सूर्य का पथ, एक सौर देव के लिए इस बात का औचित्य सिद्ध कर सकता है कि यह भी (सविता की भॉति) मृतक आत्माओ का पथ प्रदर्शक और सामान्यतः पथों का रक्षक होगा। पूषा के चरित्र का दूसरा पक्ष मवेशियो का निर्देशक होने जैसी उसकी ग्रामीण विशेषता की व्याख्या हो जाती है, जो उसकी समृद्धिदायिनी प्रकृति का एक

अनिवार्य अंग है। अतएव पूषा के चरित्र सम्बन्धी अभिधारणा की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत सूर्य की परापकारी शक्ति ही है जो मुख्यरूप से एक ग्रामीण देव के रूप मे प्रकट हुई है[1]।

इस प्रकार से इस अध्याय के अन्तर्गत पूषा देव के सम्बन्ध मे विभिन्न पहलुओं पर सूक्ष्म विवेचन किया गया है, इसका विस्तृत विवेचन अध्याय 5 के अन्तर्गत आगे किया जायेगा।

<u>अर्यमा-</u>

अर्यमा देव के सम्बन्ध में ऋग्वेद मे कोई सूक्त देखने को नहीं मिलता। किन्तु कुछ आदित्यों के प्रसंग में उनका प्रायः उल्लेख मिलता है। इस शब्द का अर्थ होगा – साथी, परिचर या मित्र और ऋग्वेद में इसे प्राय. जातिवाचक संज्ञा के रूप में उल्लेख किया गया है – नार्यमण पुष्पति नो सखायं कैवलाघौ भवति केवलादी। यहॉ अपने परिचर तथा मित्र के साथ भोजन करने का उपदेश है। अर्यमा शब्द से बना अर्यम्य शब्द मित्र शब्द से बनी भाववाचक संज्ञा मित्र्यं के समान है और मित्रता का अर्थ रखता है। (अर्यम्यं वरुण मित्र्यं वा सखायं वा सदमिद् भ्रातरं वा, ऋ0 5/83/3)। विवाहादि के अवसर पर कुमारियों का सहायक तथा रक्षक होने के कारण अग्नि को एक स्थान पर कन्याओं का मित्र कहा गया है (त्वमर्यमा भवसि यत्कबीनां नाम स्वधावन् गुह्यं विभर्षि, ऋ0 5/3/2)।

ऐसा प्रतीत होता है कि अर्यमा एक-दूसरे से प्रेम व सौहार्द बनाये रखने से सम्बन्धित पुरातन काल के कोई अमूर्त देव है। जो कालान्तर में स्वरूप के अनिश्चय के कारण आदित्य

---

[1] वैदिक माइथोलोजी मैकडॉनेल (हिन्दी) अनुवादक रामकुमार राय (पृ0 69)

मण्डल में प्रविष्ट कर लिए गये और इसी सम्बन्ध से बाद में इनका नाम सूर्य का वाची हो गया अवेस्ता मे यह शब्द ऐर्यमन् रूप मे प्राप्त होता है।[1]

ब्राह्मण ग्रंथों में अर्यमा के विषय मे केवल इतना ही स्पष्ट होता है कि वे सूर्य है। अर्यमा और सूर्य की पूर्ण एकरूपता तै0 स0 के इस उद्धरण मे तीन बार अर्यमा को आदित्य बताया गया है और यह कहा गया है कि धन, कल्याण तथा स्वर्ग की चाह रखने वाले को अर्यमा को चरु प्रदान करना चाहिए-

अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् स्वर्गकामो असौ वा आदित्यो अर्यमा अर्यमणमेव स्वेन भागेन उपधावति स एवैनं सुवर्ग लोकं गमयति अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् यः कामयेत दानकामा मे प्रजाः स्युरिति असौ वा आदित्यो अर्यमा यः खलु वै ददाति सो अर्यमा। अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् य· खलु कामयेत स्वस्ति खलु जनतामियाम् असौ वा आदित्यो अर्यमा। तै0 सं0 2/3/4

जहॉ तक शतपथ ब्राह्मण की बात है इसमें यह कहा गया है कि बृहस्पति-याग के लिए ब्राह्मण को श्वेत गाय दक्षिणा के रूप में देनी चाहिए क्योकि ऊपर की दिशा बृहस्पति की है और उससे ऊपर अर्यमा (सूर्य) का मार्ग है (जो किरणों के कारण श्वेत है) -

........तस्य शितिपृष्टो गौर्दक्षिणा एषा वा ऊर्ध्वा बृहस्पतेर्दिक्। तदेष उपरिष्टाद् अर्यम्णः पन्था.।

(शत0 ब्रा0 5/3/1/2)

[1] सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान पाउल थीमे द्वारा लिखित - 'डेर फ्रेम्डलिग इम ऋिग्वेद' नामक ग्रथ मे अर्यमा को मुख्यत अतिथि, अभ्यागत से सम्बन्धित देव बताया है, और स्वत आर्य शब्द को इससे जुडा हुआ माना है। (पृ0 125 126)

(ऊर्ध्वा दिक् बृहस्पति देवता का। तस्या उपरिष्टाद् अर्यम्ण.। सूर्यस्य एष परिदृश्यमान पन्था-मार्ग.। स च किरणसबन्धात् श्वेतः-सायण)।

निरुक्त में (11/24) यास्क ने भी अर्यमा को सूर्य का वाची माना है।

ऋग्वेद (10/14), शुक्ल यजुर्वेद (19/45) तथा शतपथ ब्राह्मण (12/8/19) और (13/4/3/6) में स्पष्ट रूप से अर्यमा को पितरों का अधिपति यम को वताया गया है। वह क्षत्र (राजा) है और पितर विश् (प्रजा)।

पुराणों में अर्यमा को पितरों के अधिपति के रूप में मान्यता मिली है। जिस प्रकार इन्द्र देवों के राजा हैं उसी प्रकार अर्यमा पितरों के गीता मे भगवान कृष्ण पितरों में अपने को अर्यमा बतलाते हैं (पितृणामर्यमा चास्मि यमः सयमतामहम् 10/29)। वैदिक साहित्य में नरकों का कोई उल्लेख नहीं है किन्तु पुराणो में नरकों की धारणा का विकास होने पर पितरो तथा मृतात्माओं के प्राचीन राजा यम नरक के अधिपति बन गये है। यम का जो स्थान रिक्त हुआ उसमें अस्पष्ट-स्वरूप वाले इस देवता की नियुक्ति कर दी गयी। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो अर्यमा यम के दूसरे कार्य, नरकाधिपतित्व की भी देखभाल कर लेते हैं। जब माण्डव्य ऋषि यम को शूद्र योनि में जाने का शाप देते हैं और यम विदुर के रूप मे पृथ्वी पर जन्म लेते हैं तो 100 वर्षों तक अर्यमा यम के स्थान पर पापियों को दण्ड देते रहते हैं।

अविभ्रदर्यमा दण्ड यथावदधकारिषु।

यावद्दधार शूद्रत्व शापाद् वर्षशत यमः।।

(भागवत महापुराण - 1/13/15)

पितरों के अधिपति होने के कारण पृथ्वी दोहन के समय श्राद्धदेवता पितर अर्यमा को बछड़ा बनाकर कच्ची मिट्टी के पात्र में गाय रूपी दूध दुहते है।

वत्सेन पितरोऽर्यम्णा कव्य क्षीरमधुक्षत।

आमपात्रे महाभागा श्रद्धया श्राद्धदेवता ।।

(भागवत0 4/18/18)

महाभारत आदि पर्व 65/15 और शान्तिपर्व 208/15 आदि में अर्यमा को द्वादश आदित्य मे परिभाषित किया गया है।

मित्र -

मित्र को सम्बोधित सूक्त के पञ्चम मंत्र मे इस देवता को महान् 'आदित्य' कहा गया है जो 'मनुष्यों' में एकता लाता है। ऋग्वेद मे मित्र देवता का स्वतन्त्र उल्लेख बहुत कम है। वरुण के साथ मिलाकर मित्रावरुणा या मित्रावरुणौ नाम से इनका प्रायः वर्णन मिलता है। किन्तु इस युगल देवता में भी मित्र का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है क्योंकि 'मित्रावरुण' में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जो अकेले वरुण मे न पायी जाती हो ऋग्वेद में केवल एक ही ऐसा सूक्त है (3/5/9) जो अकेले मित्र के लिए प्राप्त होता है इसमे उनकी दो तीन विशेषताओं का वर्णन है। मित्र अपने आदेश से (अथवा स्तुति होने पर) और मनुष्यों को अपने कर्मो में प्रेरित करते है (यातयति) निर्निमेष दृष्टि से मनुष्यों को देखते हैं।[1]

[1] रॉथ तथा मैक्डॉनेल आदि विद्वानो के अनुसार 'यातयति' का अर्थ है- 'एक स्थान पर एकत्र करना' इसकी पुष्टि मे वे जन च मित्रो यतति ब्रुवाण. (7 36 2) आदि मन्त्र उद्धृत करते है और डॉ जी0सी0 त्रिपाठी ने यातयति का

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम्।

मित्र· कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्य घृतवज्जुहोत।।

(ऋ0 3/59।)

पृथ्वी और आकाश को धारण की विशेषता तो लगभग सभी देवों मे समान है किन्तु 'यातयज्जन' मित्र की अपनी एक विशिष्ट उपलब्धि है (यातयज्जनो गृणते सुशेव· 3/59/5) क्योंकि अग्नि के लिए एक बार कहा गया है कि वह मित्र की तरह 'यातयज्जन' (मित्रं न यातयज्जनम् ऋ0 5/102/12) है। मित्र से सम्बन्ध होने के कारण यह विशेषण एक बार मित्रावरुणौ के लिए (5/62/2) और दोनों से पारस्परिक सम्बन्ध के आलोक मे ही यह एक बार अर्यमा के लिए भी आया है (1/136/3)। वैसे मनुष्य के क्रिया-कलापों को अपलक दृष्टि से देखने की विशेषता प्रमुखतः वरुण की ही है। वरुण की ही तरह मित्र के व्रतो या नियमों का भी विवेचन मिलता है। जो इन व्रतों या नियमों को नियमपूर्वक अपनाता है वह धन वैभव एवं स्वास्थ्य से समृद्ध होता है। उसे न कोई मार सकता है और न ही कोई उस पर विजय प्राप्त कर सकता है तथा उसे कोई व्याधि भी नहीं सताती-

प्र स मित्र मर्त्यो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।

न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमंहो अश्नोत्यंततो न दूरात्।। (5/39/2)

अर्थ प्रेरित करना बताया है। जबकि सायण ने इसे यत् (प्रयत्न करना) का णिजन्त रूप माना है जो सबसे उपयुक्त है। मित्र के विषय मे एकत्र करने का क्या सन्दर्भ हो सकता है?

अथर्ववेद 13/3/13 में मित्र को प्रात.काल से तथा वरुण को सायकाल से सम्वन्धित विवरणीत किया गया है (स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्) और 9/13/18 मे यह उल्लिखित है कि मित्र प्रातःकाल उसे प्रकाशित करें जिसे वरुण ने छिपा रखा था (वरुणेन समुज्जितं मित्र· प्रातर्व्युब्जतु) इससे ऐसा प्रतीत होता है कि मित्र का सूर्य या प्रकाश से विशिष्ट सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध की पुष्टि अवेस्ता मे मित्र के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से और रोमन साम्राज्य में अपराजेय सूर्य के रूप मे इनकी उपासना करने से भी होगी। ऐसा सम्भव है कि धूम रूपी अन्धकार से घिरे होने के कारण ही ऋग्वेद 5/3/1 में सद्योजात अग्नि को वरुण तथा प्रदीप्त–अग्नि को मित्र का रूप माना गया।

त्वमग्ने अरूणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः।

इसी आधार पर सम्भवतः श0 ब्रा0 2/3/2/92 में उल्लेख किया गया कि जब अग्नि की ज्वालाओ का शान्त होना एवं शनै शनैः अग्नि का लकड़ियों में जलते रहना ही मित्र देव के समान है। उस काल में वह हानि नहीं पहुँचाती। मित्र तो सभी का हितैषी है ही, वह किसी को पीड़ा नहीं पहुँचाता। वे पूर्णतः शान्त और ब्राह्मण के समान सरल हैं।

अत्र यत्रैतत् प्रतिररामिव तिरश्चिवार्चिः संशाम्यतो भवति।

तर्हि हैष भवति मित्रः। यमाहुः सर्वस्य वा अयं ब्राह्मणो मित्रम्। न वा अय कंचन हिनस्ति।

सविता को भी एक बार (ऋ0 5/81/7) मे अपने नियमो के कारण मित्र के साथ समीकृत किया गया है तथा (वालखिल्य 4/3) में यह उल्लेख किया गया है कि विष्णु अपने

तीन पग मित्र के नियमों के अनुसार ही रखते है। इन दोनों स्थलो पर ऐसी अभिव्यक्ति करते हुए प्रतीत होते है कि मित्र ही सूर्य के पथ का नियमन करते है। उषा के समय शीर्ष-स्थान पर जाने वाले अग्नि अपने लिये मित्र को उत्पन्न करते है (ऋ. 10/8/4) प्रज्ज्वलित होने पर अग्नि ही मित्र होते हैं अर्थात् अग्नि जब जन्म लेते है तब वे वरुण होते हैं तथा जब प्रज्ज्वलित होते है तब मित्र (ऋ. 5/3/1, 3/5/4)।

मित्र के इन्हीं स्वरूपों और पक्षों पर ब्राह्मणो मे सर्वाधिक बल दिया गया है। तै0 सं0 5/1/6 में यह उल्लेख है कि मित्र देवों मे सर्वाधिक मंगलमय हैं (मित्रो वै शिवो देवानाम्) तथा शतपथ ब्राह्मण के 5/3/2/6 मे यह उल्लेखित है कि मित्र किसी की हानि नहीं करते, वे सबके मित्र हैं। अतः मित्र को भी कोई नुकसान नहीं पहुँचाता। न उनको काँटा गड़ता है और न ही कोई घाव होता है।

> न वै मित्रः कंचन हिनस्ति। सर्वस्य हि एव मित्रो मित्रम्। न मित्रं कश्चन हिनस्ति। नैनं कुशो न कण्टको विभिनत्ति। नास्य व्रणश्चनास्ति।

जहॅा तक अवेस्ता की बात है इसमें मित्र को पारस्परिक सधि की शर्तों का अभिभावक बताया है, ठीक उसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता में भी (2/1/8) इनके सम्बन्ध मेंएक सन्दर्भ मिलता है जिसमें उल्लेख किया गया है कि ; यदि कोई संग्राम में रत व्यक्ति शान्ति एवं सन्धि चाहता है तो उसे अवश्य ही मित्र की उपसना करनी चाहिए। तथापि मित्र दोनों पक्षों को आपस मे मिलाते है।

मैत्रमालभेत संग्रामे सयत्ते समयकामी मित्रमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति। स एवैनं मित्रेण संनयति।

उपर्युक्त उद्धरण से यह तथ्य स्पष्ट होता है कि आज से करीब 3400 वर्ष पहले वोगाजक्यूइ मे हित्तिति और मितानी समुदायो की जो सन्धि हुइ थी उसमे मित्र के आवाहन का क्या वैशिष्ट्य था।

वाज0 सं0 मे (36/18) में यह उल्लेख किया गया है कि हम मित्र के नेत्रों से सब प्राणियों को देखें और सब प्राणी हमे भी मित्र के नेत्र से देखें -

मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

मित्रस्याह चक्षुषा सर्वानि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।

तैत्तिरीय संहिता में केवल एक स्थान पर प्रयुक्त दो वाक्यों से सूर्य एवं मित्र की एकरूपता ध्वनित होती है। वास्तव मे यह आश्चर्य का विषय है कि लौकिक साहित्य में मित्र शब्द के पुल्लिंग मे सूर्य-वाची होते हुए भी ब्राह्मणो मे कहीं सूर्य और मित्र का तादात्म्य नहीं उल्लेखित है।

तैत्तिरीय संहिता में ही (2/6/8) यह कहा गया है कि मै तुम्हे सूर्य के नेत्रों से देखता हूॅ ; क्योंकि सूर्य कभी किसी को हानि नहीं पहुॅचाता -

सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामि इत्यब्रवीत्।

न हि सूर्यस्य चक्षुः कंचन हिनस्ति।

इसमे कहीं सन्देह नहीं किया जा सकता है कि मित्र के नेत्रो से देखने का तात्पर्य प्रेम, मैत्री, सद्भाव, सहानुभूति एवं वात्सल्य की भावना से देखना है।

पुराणो एवं महाभारत के अवलोकन से यह द्रष्टव्य होता है कि 'मित्र' उल्लेख वहीं है जहाॅ औपचारिक रूप से क्रमशः अन्य सभी देवताओ का वर्णन किया गया है, जैसे अर्जुन के जन्म के समय आये हुए देवों की (आदिपर्व 122/66), खाण्डव दहन के समय अर्जुन से युद्ध करने के लिए आये देवों की (226/36) तथा स्कन्द को आशीर्वाद देने के लिए आये देवों की (शल्यपर्व 45/41) सूची में। पुराणों में मित्र का देवरूप में प्राय. कहीं उल्लेख नहीं दिखलायी पड़ता, वास्तव में यह शब्द पूर्णरूपेण सूर्य का वाची बन गया है।

वैदिक साहित्यों में मित्र का उल्लेख नाम मात्र ही है जहाॅ है भी वहाॅ या तो वरुण के साथ या अन्य देवों के साथ मिलता है ऐसा लगता है कि वर्तमान मित्र (मित्रता) भाव के विकास का सम्बन्ध वैदिक मित्र से ही मिलने का सकेत मिलता है।

वरुण -

ऋग्वेद के उत्कृष्ट देवो मे 'वरुण' का अद्वितीय स्थान है। महानतम देवों में उनका नाम प्रमुखता से लिया जाता है। वास्तव में आदर एवं सम्मान की दृष्टि से वरुण को सर्वोच्च स्थान दिया जा सकता है। इनके मानवीय स्वरूप का बडा ही सुन्दर चित्रण किया गया है। वे अपनी भुजाओं को हिलाते हैं, भ्रमण करते हैं एव रथ हाॅकते है तथा खाते-पीते व बैठते हैं। इनका शरीर मांसलयुक्त एवं सम्पुष्ट है। इनका सुनहला कवच (हिरण्यद्रापि) दर्शकों के नेत्रो को

चकमक, चकाचौंध किये रहता है। सूर्य इनके नेत्र हैं[1] ये दूर की वस्तुओं को देख सकते हैं तथा इनके हजारों नेत्रो का उल्लेख मिलता है।[2] नैतिक दृष्टि से वरुण का स्तर इन्द्र से कहीं बहुत ऊँचा है। वे परम शक्तिशाली, निश्चित नियमों का पालन करने एवं करवाने वाले, बुद्धिमान् सम्राट हैं और सभी देवता उनके नियमो का पालन करते हैं। वरुण स्वयं तो सर्वज्ञानी है ही, साथ ही साथ उनके कुछ दूत या गुप्तचर भी हैं। ये आकाश से उतरकर भूमि पर विचरण करते हैं और अपनी सहस्त्रो नेत्रो से सब कुछ देख लेते हैं[3]। वरुण की प्रशस्ति में अकित सूक्तो की संख्या इनके चरित्र की महानता का मूल्याकन करने का पर्याप्त आधार नहीं है।

वरुण ने विश्व पालन हार के रूप मे उनके पालन के लिए कुछ निश्चित नियमो का निर्माण किया है और संसार की प्रत्येक क्रिया इन्हीं नियमो से नियन्त्रित है। उनके व्रतो के कारण पृथ्वी एवं आकाश अपने-अपने स्थान पर स्थित है[4]। उन्होंने ही सूर्य को द्युलोक में स्थापित करके प्रकाशित किया है।[5] निरुक्तकार यास्क का कहना है कि 'वरुणो वृणोतीति सतः' सबको आच्छादित कर लेने के कारण उन्हें वरुण कहते हैं।[6] 'वृ-आच्छादने अधातु से बना यह शब्द सम्भवतः मूल रूप में आकाश के विशाल विस्तार का द्योतक था। मानव के नेत्रों की सीमा से भी आगे सुदूर क्षितिज के पार तक विस्तृत आकाश ने ही प्राचीन आर्यों के हृदय में वरुण

---

[1] ऋग्वेद (1 115 1,6.51 1,7 61 1,7 36 1)

[2] ऋग्वेद 7.34 10

[3] दिव स्पश प्रचरन्तोदमस्य सहस्राक्षा अभि पश्यन्ति भूमिम् (अथर्ववेद 4.16 4)

[4] अस्तभ्नात् द्यामसुरो विश्ववेदा अभिमीत वरिमाण पृथिव्या । आसीदद विश्वा भुवनानि सम्राट विश्वेतानि वरुणस्य व्रतानि ऋ0 8.42 ,6 70 1

[5] ऋग्वेद 7 86.1, 8.41 10

[6] निरुक्त 10.4 यास्क कृत

जैसे सर्वदर्शी, सर्वज्ञ एव मनुष्य की प्रत्येक क्रिया पर दृष्टि रखने वाली देवी शासक वरुण की कल्पना को जन्म दिया। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान रॉथ के मतानुसार- वरुण विशेषतः रात्रि के आकाश से सम्बन्धित थे। रात्रि मे प्रकाश के अभाव के कारण नेत्रों की देखने की शक्ति सीमित हो जाती है, तब आकाश सिमट कर छोटा होने जैसा प्रतीत होता है और वरुण तथा उसके उपासकों में और अधिक सामीप्य की भावना आ जाती है। रॉथ के इस मत में सत्यता की झलक मिलती है क्योंकि ब्राह्मण ग्रथों में भी मित्रावरुणौ का क्रमशः दिन और रात्रि से बार-बार सम्बन्ध बताया गया है। उदाहरण स्वरूप ऐतरेय ब्राह्मण 4/2/4 में उल्लिखित है कि मित्र दिन से और वरुण रात्रि से और तैत्तिरीय संहिता में (2/1/6) दिन मित्र से सम्बन्धित है और वरुण रात्रि से। अत. मित्र के लिएश्वेत तथा वरुण के लिए श्याम पशु का आलभन करना चाहिए।

वरुण का नैतिक पक्ष तथा क्रियाशीलता ही ऋग्वेद के कवियों के समक्ष वर्ण्य रहीं है। अतः उनकी शारीरिक विशेषताओ तथा आकार-प्रकार का तुलनात्मक दृष्टि से बहुत कम उल्लेख है। वरुण के नेत्र का प्रायः उल्लेख हुआ है। इससे वरुण कर्म करते हुए देखते हैं बहुत दूर तक देख सकने के कारण वरूण को 'उरुचक्षस्' की उपाधि मिली हुई है।[1]

वरुण को विधानों द्वारा ही उज्जवल प्रकाश से युक्त होकर चन्द्रमा रात्रि में भ्रमण करता है, और इसी से उन्नत स्थान में स्थित तारे रात्रि में तो दिखायी पड़ते है किन्तु दिन में आखों से ओझल हो जाते हैं (ऋ01/24/10)। एक अन्य स्थान पर यह कहा गया है कि

---

[1] ऋग्वेद 1.50 6 एव 1 25 5

वरुण ने रात्रियों का आलिगन कर रखा है और अपनी गुप्त शक्ति के द्वारा ही प्रात.काल अथवा दिनों की स्थापना की है। इनके साथ सूर्य का ही बहुधा उल्लेख मिलता है, रात्रि अथवा चन्द्रमा का नहीं। इसीलिए प्राचीनतम वेद में वरुण रात और दिन दोनों ही समय प्रकाश के अधिपति माने गये है जब कि जहॉ तक अनुमान किया जा सकता है, मित्र केवल दिन के प्रकाश के ही अधिपति के रूप मे आते हैं। वैदिक प्रमाणों के आधार पर वरुण के प्राकृतिक सम्बन्ध में क्या अन्तर हो सकता है? इन प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि मित्र के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसे दृष्टि मे रखने पर वरुण तथा मित्र दोनो का ही सूर्य से सम्बन्ध स्थापित किया गया है, फिर भी वरुण अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण देव माने जाते हैं। अवेस्ता के प्रमाणों के अनुसार, वरुण मुख्यतः किसी अन्य तत्त्व के प्रतिनिधि रहे होंगे और सामान्यतः स्वीकृत मत के अनुसार यह तत्त्व सभी जगह व्याप्त आकाश भी हो सकता है। ओल्डेनवर्ग[2] महोदय द्वारा प्रस्तुत यह मान्यता की , कि वरुण मुख्यतः चन्द्रमा का प्रतिनिधित्व करते थे, यहाँ इसकी अपेक्षा नहीं की जा सकती। इस कथन से आरम्भ करते हुए आदित्यो की संख्या विशेष रूप से सात थी और अवेस्ता के अमेषस्पेन्तस् के साथ इनका समीकरण एक स्वीकृत सत्य है उनका यह विश्वास था कि वरुण और मित्र क्रमशः चन्द्रमा और सूर्य थे, लघु आदित्यगण पॉच ग्रहों का प्रतिनिधित्व करते थे, और यह सभी लोग भारोपीय देव नहीं थे, वरन् भारतीय ईरानी काल में इन्हे आर्यों की अपेक्षा ज्योतिष विज्ञान मे अधिक प्रवीण सेमेटिक लोगों से ग्रहण कर लिया गया था। इस प्रकार गृहीत होने के बाद वरुण के चरित्र का मौलिक महत्त्व क्रमशः घट

---

[2] ओल्डेनवर्ग- Die Religion des Veda (पृ0 285 78)

गया होगा जबकि इसमें एक अत्यधिक नैतिक पक्ष पहले से वर्तमान रहा होगा। क्योंकि अन्यथा स्पष्ट. एक चन्द्रदेव के लिए, मित्र के चरित्र को जिसे स्पष्टत. सूर्य समझा जाता था, भारतीय इरानी काल मे ही आच्छादित कर लेना, अथवा इतना अमूर्त चरित्र विकसित कर लेना एक नैतिक शासक के रूप में अवेस्ता के अहुर मज्दा और वेदों मे वरुण जैसे सर्वोच्च देवों का स्वरूप ग्रहण कर लेना प्राय. कठिन होता। फिर भी ओल्डेनवर्ग की यह मान्यता ऋग्वेद मे उपलब्ध वरुण की वास्तविक चारित्रिक विशेषताओं का भली-भॉति समाधान नहीं कर पाती। साथ ही इसके अनुसार वरुण और यूरेनस (Ourano's) के बीच किसी प्रकार के भी सम्बन्ध को सर्वथा अस्वीकृत कर देना भी आवश्यक था। परन्तु चाहे यह शब्द वास्तव मे भारोपीय हो अथवा एक बाद के काल का निर्माण यह वास्तव में 'वर' (ढकना) धातु से व्युत्पन्न हुआ है। और इस प्रकार इसका अर्थ 'परिवृत करने वाला है। सायण ऋग्वेद (1/89/3) पर भाष्य करते हुए बन्धनों से पापियों को परिवेष्टित करने या आबद्ध करने या तैत्तिरीय संहिता (1/8/16/1) पर भाष्य करते हुय अन्धकार की भॉति आच्छादित करने तै0 स0 (2/1/7/8) के आशय मे ही इसे उक्त धातु के साथ सम्बद्ध करते हैं। यदि यह शब्द भारोपीय है, तो यह यूनान मे 'आकाश' के एक नियमित नाम के रूप में, किन्तु भारत में आकाश के एक उष्ण देवता के रूप मे, द्यौस का ही एक गुणमात्र रहा होगा।[1]

इस अध्याय में 'वरुण' के सम्बन्ध में संक्षिप्त चर्चा की गयी है, शोध प्रबन्ध के अध्याय 4 में इसकी विशेष व्याख्या की जायेगी।

---

[1] मैक्डानेल वैदिक मॉइथोलॉजी (हिन्दी) अनु0 रामकुमार राय पृ0 (52)

विष्णु -

व्यापनशील होने से विष्णु सूर्य के क्रियाशील रूप के प्रतिनिधि है सूर्य को विभिन्न क्रियाओं तथा दशाओ की विभिन्नता से अनेक देवों के रूप मे ऋग्वेद में कल्पना की गयी है। सूर्य एक स्थान पर नहीं रुकता। वह प्रात· काल प्राची के क्षितिज से उठकर दोपहर को ठीक मध्याकाश को आ विराजता है तथा सायकाल पश्चिम दिशा में अस्त हो जाता है यह सूर्य का सक्रिय अद्योग जनित स्वरूप है जिसकी कल्पना विष्णु के रूप में की गयी । विष्णु का प्रमुख कार्य पृथिवी को तीन पगों मे मापने का है। वे एक होकर भी तीन पगों से विश्व को नाप लेते हें (एको विममे त्रिभिरित पदेभिः) इन विशाल पगो के कारण ही इन्हे 'उरु क्रम तथा उरुगाय कहते हैं। यास्क के उल्लेखानुसार (निरुक्त 12/19) आचार्य और्णवाम (जो इसके पूर्ववर्ती थे) के मत मे प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में सूर्य के द्वारा अंगीकृत आकाश के तीन बिन्दुओं का निर्देश है, अन्य आचार्य शाकपूणि के मत में त्रिक्रम से पृथ्वी, अन्तरिक्ष एवं आकाश इन तीनो लोकों के नापने तथा अतिक्रमण करने का संकेत है। इनमें शाकपूणि के मत की पुष्टि ऋग्वेदीय मन्त्रों से स्वतः हो जाती है। इनके चरित्र की विशिष्टता यही है कि यह तीन पग (साधारणतया वि-क्रम द्वारा व्यक्त) रखते हैं, और उरुक्रम चौड़े पग रखने वाला 'उरुगाय' (विस्तृत पाद प्रक्षेप वाला) जो लगभग एक दर्जन बार आती है से भी इनका उक्त कार्य ही उद्दिष्ट है। विष्णु के लिए ऐसा वर्णन है कि इन्होंने तीन पगों से पृथिवी अथवा पार्थिव स्थानों को नाप लिया था इनमें से दो पग अथवा स्थान तो मनुष्य को दिखायी पड़ते हैं किन्तु तीसरा अथवा उच्चतम पग मनुष्य की पहुँच या पक्षियों की उडान से बाहर है (ऋ0 1/155/5/7/99/2)। सम्भव है

यही धारणा उस स्थान पर एक रहस्यात्मक रूप मे व्यक्त की गयी है (1/155/3) जहॉ इनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह अपना तृतीय नाम द्युलोक के उज्जवल क्षेत्र में धारण करते है। विष्णु के शिखर स्थान को अग्नि के शिखर स्थान के समकक्ष माना गया है, क्योंकि विष्णु अग्नि के उच्चतम तृतीय स्थान की रक्षा करते है (10/1/3) और विष्णु के उच्चतम स्थान पर अग्नि रहस्यात्मक गायों (कदाचित मेघ, 5/3/3) की रक्षा करते है।

अथर्ववेद (3/36/7) मे यज्ञ को उष्णता प्रदान करने के लिए विष्णु का स्तवन किया गया है। ब्राहमण ग्रंथो में विष्णु का कटा हुआ मस्तक ही सूर्य बन गया है वैदिकोत्तर साहित्यों में विष्णु के अस्त्रों में से एक घूमता हुए चक्र भी है, जो सूर्य के सदृश ही बना होता है (तु0की05/63/4) और विष्णु का वाहन पक्षियो मे प्रधान गरुड है, जो देखने में अग्नि के समान प्रदीप्त बताया गया है। जिसे गरुत्मत' तथा 'सुपर्ण' भी कहा जाता है जबकि यह दोनों ही शब्द ऋग्वेद में सूर्यपक्षी के लिए व्यवहृत किया गया है। अन्ततः वैदिकोत्तर कालीन 'कौस्तुभ' अथवा विष्णु द्वारा अपने वक्षः स्थल पर धारण की गयी 'मणि' की भी सूर्य के रूप में ही व्याख्या की गयी है। यद्यपि विष्णु अपने स्वरूप मे प्राकृतिक घटना से स्पष्ट सम्पादित नहीं किये गये हैं, तथापि उपलब्ध प्रमाण इस निष्कर्ष को उपयुक्तता सिद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं कि मूलतः सूर्य के रूप में ही इनकी धारणा विकसित हुई थी जो कि सामान्य चरित्र को ही दृष्टि से न सही, किन्तु तीव्र गति से चलने वाले एक ऐसे मूर्तिकृत प्रदीप्त पिण्ड के रूप मे ही थी, जो अपने विस्तृत पगो द्वारा समस्त विश्व को पार करता हुआ प्रदीप्त होता है। यह व्याख्या इनके नाम के विष धातु से व्युत्पन्न होने द्वारा भी सिद्ध होती है जो ऋग्वेद मे अनेक बार

प्रयुक्त हुई है जिसका तात्पर्य 'सक्रिय' होता है (रॉथ सेन्टपीटर्सबर्ग कोश)। इसका मेघरूपी पर्वतों की ऊँचाई से देखने वाले सूर्य का ही लाक्षणिक आशय प्रकट होता है (तु0 की05/86/4) ऋग्वेद की किंचित इन्ही अभिव्यक्तियों के कारण बाद मे विष्णु को पर्वतो का अधिपति (तै0स03/4/5/1) कहा गया है। अवेस्ता के एक सस्कार मे पृथ्वी से लेकर सूर्य के क्षेत्र तक बढ़ाये गये 'अम्षसपन्दस' के तीन पग भी इन्हीं की अनुकृति हैं। शतपथ ब्राह्मण (14/1/1) में एक स्थान पर यह वर्णन है कि किस प्रकार यज्ञ रूपी विष्णु सर्वप्रथम बन गये और किस प्रकार इनका धनुष टूट जाने से इनका सर कटकर सूर्य (आदित्य) बन गया। अतः ऋग्वेद की ऋचाथों मे आदित्य (सूर्य) और विष्णु को एक दूसरे से सम्बन्धित वताया गया है। कई मन्त्रों में एक ही विशेषण सूर्य और विष्णु दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यथा उरुक्रम विक्रम आदि। वृहद्देवता तथा निरुक्त के परिशीलन एव आदित्यगणों की गणना से ऐसा प्रतीत होता है कि विष्णु का सूर्य के साथ सम्बन्ध अवश्य था। समस्त भूमण्डल सूर्य की किरणो से प्रकाशित होता है। सूक्ष्म विवरों में भी सूर्य की किरणें सभी स्थानो पर आवेष्टित रहती है अतः आदित्य के इस व्यापक रूप में विष्णु का चिन्तन हमारे ऋषियों महर्षियों मे सहज रहा है।

त्वष्टा-

त्वष्टा का ऋग्वेद में 65 बार नाम आया है। सविता के अतिरिक्त और देवों की अपेक्षा त्वष्टा अधिक प्रचलित देव थे। त्वष्टा सुन्दर भुजाओ वाले (6.49.9 में सुरभस्ति) बताए गये है। त्वष्टा और सविता के लिए सुपाणिः शब्द व्यवहृत हुआ है। त्वष्टा के हाथों में एक लौह कुठार है यह इनकी विशिष्टता का परिचायक है। (8.29.3)।

यह एक कार्यकुशल, व्यक्ति, शिल्पिक की भॉति चित्रित है (1.85.9,3.54.12,) वास्तव में यह शिल्पियो में सर्वाधिक कुशल और जटिल रचनाएँ करने मे पूर्ण पटु हैं (10.53.9)। इन्होने इन्द्र के वज्र का निर्माण (तक्ष्) किया। ब्रह्मस्पति की लौहकुठार को भी यही तीक्ष्ण करते है। (5.31.4,10.53.9)। इन्होंने 'असुर' (देवो) के भाजन रखने हेतु नवीन पात्र बनाया है (1. 20.9.,1.110.3)। देवो के पेय रखने हेतु एक पात्र बनाया (1.161.5,3.35.5)। इनके पास ऐसे घट या पात्र है जिनमें देवगण पान करते है। (10.53.9)। अथर्ववेद (9.4.3.9) में धन से भरा एक पात्र और सोम से भरा एक प्याला धारण करने वाले एक वृद्ध व्यक्ति के रूप में इनका उल्लेख मिलता है। वाजसनेयि सहिता (29.9) मे त्वष्टा से ही तीव्र गति वाले अश्व की उत्पत्ति की बात उल्लिखित है, त्वष्टा से ही अश्व को गति प्राप्त होती है, यह उल्लेख अथर्ववेद में मिलता है। (अथर्व06.92.1)।

ऋग्वेद में त्वष्टा द्वारा सभी प्राणियों को रूप विशेष दिया गया, त्वष्टा द्वारा गर्भाशय मे गर्भ विकसित किये जाते हैं और मनुष्य या पशु सभी के आकारो में प्रखरता लायी जाती है। (ऋग्वेद 10.110.9,1.188.9,8.91.8,10.184.1)। ऋग्वेद मे इन्हे सर्वरूप (विश्वरूप) की पदवी से अलङ्कृत किया गया।) अथर्ववेद 2.26.1, शतपथ ब्रा0 11.4.3.3 और तैत्ति0 ब्राह्मण 6.4.7.1 में त्वष्टा की विशिष्ट रूप से आकारों का सृष्टिकर्ता कहा गया है। अथर्ववेद मे ही विविध प्राणियों को उत्पन्न करने वाला और उनका पोषण करने वाला त्वष्टा ही है इसका उल्लेख है (10.10.5, 6.78.3,3.55.19)। वास्तव मे त्वष्टा सार्वभौम पिता हैं और समस्त ससार को उत्पन्न करते हैं (वाजसनेयि संहिता 29.9)।

त्वष्टा मानव जाति के पूर्वज भी हैं क्यों कि इनकी पुत्री सरण्यू विवस्वत् की पत्नी के रूप में आदि यमज 'यम' और 'यमी' की माता बनती हैं। (10.17.1-2) वायु को इनका जामाता कहा गया है। (8.26.21)। त्वष्टा ने वृहस्पति को पुत्र के रूप मे प्राप्त किया (2.23.17)। दस उँगलियो द्वारा उत्पन्न होने के कारण अग्नि भी त्वष्टा की सन्तान हैं। (1.95.2)। आकाश तथा पृथिवी, जलों और भृगुओं के साथ त्वष्टा ने ही अग्नि को उत्पन्न किया। (20.2.7;46.9)। निष्कर्षतः इद्र के पिता त्वष्टा ही थे, इन्द्र ने अपने पिता के घर में ही सोमपान किया। (4.18.3)।

तैत्तिरीय संहिता 2.4.12.1; तथा शतपथ ब्राह्मण 1.6.3.9 मे इन्द्र द्वारा त्वष्टा के अन्य पुत्र का वध कर दिये जाने के कारण ही त्वष्टा ने सोमपान मे इन्द्र की सहायता देने से मनाही कर दी किन्तु इन्द्र ने आकर बलपूर्वक सोमपान कर लिया था - उल्लिखित है। त्वष्टा का उल्लेख अधिकतर पूषा, सविता, धाता, प्रजापति के साथ किया गया है। (3.55.19;10.10.5)।

अपने स्तोताओं को धन प्रदान करने और उनके सूक्तो से त्वष्टा के द्वारा प्रसन्न होकर दीर्घजीवन प्रदान करने का उल्लेख है। (अथर्व06.78.3)।

त्वष्टा 'त्वक्ष' धातु से व्युत्पन्न है, ऋग्वेद मे एक ही शाब्दिक रूप मिलता है और जिसका सजातीय रूप अवेस्ता में 'ध्वक्ष' आता है। अर्थ की दृष्टि से यह उस समान धातु पक्ष' से मिलता है जिसका इन्द्र के वज्र के निर्माण करने के सन्दर्भ में त्वष्टा के नाम के साथ प्रयोग हुआ है। अतः इसका अर्थ निमार्णकर्ता अथवा शिल्पकार प्रतीत होता है।

त्वष्टा वैदिक देव समाज के सर्वाधिक अस्पष्ट देव है। त्वष्टा को पाश्चात्य विद्वान् लुडविग वर्ष का एक देव मानते है। हिलेब्राण्ट महोदय लुडविग के मत से सहमत है। ओल्डेनवर्ग का विश्वास है कि यह किसी विशिष्ट क्रिया को व्यक्त करने वाला एक विशुद्ध अमूर्त शब्द है। हार्डी महोदय त्वष्टा को सौर-देव मानते हैं।

त्वष्टा के प्याले की 'वर्ष के पात्र' अथवा रात्रि के आकाश के रूप में व्याख्या की गयी है किन्तु इन दोनों से किस किसी के सम्बन्ध मे भी सोम से परिपूर्ण होने और देवों द्वारा पान किये जाने की कल्पना नहीं की जा सकती। चन्द्रमा के रूप मे इसकी हिलेब्राण्ट द्वारा प्रस्तुत व्याख्या अधिक समीचीन प्रतीत होती है।

वस्तुतः त्वष्टा ऐसे देव हैं जिन्हें शिल्पाकार के रूप मे उल्लिखित किया गया है। उन्हें मनुष्यों, पशुओ को विशेष आकृति से सम्पन्न करने वाला देव बताया गया है। इनकी जो भी यजमान स्तुति करता है उसे वे पर्याप्त धन-समृद्धि देकर सन्तुष्ट किया करते हैं।

भग :-

भजनीयः भाग्यस्य प्रदाता देवस्तथा च तैत्तिरीये -

भगोह दाता भग इति प्रदाता।। (तैत्ति0 उप0 3/1/9/8)

पौष मास मे भग नामक आदित्य (सूर्य) अरिष्टनेमि ऋषि, पूर्वाचित्ति अप्सरा, ऊर्ण गन्धर्व, कर्कोटक सर्प, आयु यक्ष तथा स्फूर्ज राक्षस के साथ अपने रथ पर संचरण करते है। तिथि, मास, संवत्सर, अयन, घटी आदि के अधिष्ठाता भगवान् भग मुझे सौभाग्य प्रदान करें। ग्यारह हजार रश्मियों से तपने वाले भगवान् भग का रक्तवर्ण है।

भगः स्फूर्जोऽरिष्टनेमिरूर्ण आयुश्च पञ्चम ।

कर्कोटक· पूर्वचितिः पौषमाससनयनन्त्यमी।।

तिथिमासऋतूना च वत्सरायनयोरपि।

घटिकाना च यो कर्ता भगो भाग्य प्रदोऽस्तु मे।।

भगवान् सूर्य के सातवे विग्रह का नाम भग है। यह ऐश्वर्य रूप से समस्त सृष्टि मे निवास करते है तथा पौष मास मे सूर्य के रथ पर चलते हैं। भग कहते हैं - सूर्य, चन्द्रमा, शिव, सौभाग्य, प्रसन्नता, यश, सौन्दर्य, प्रेम, गुण-धर्म, प्रयत्न, मोक्ष तथा शक्ति को। पौष के भयङ्कर शीत में सूर्य चन्द्र की भॉति शैत्य बढ़ाकर शिव की भॉति कल्याणकर, प्रकृति मे स्वर्गीय सुषमा की सृष्टि करते हैं तथा अपने उपासकों को ऐश्वर्य और मोक्ष प्रदान करते हैं। सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य- ये छ. भग कहे जाते हैं और इनके स्वामी विष्णु हैं। अतः पौष मास के प्रत्येक रविवार को 'विष्णवे नमः' कहकर सूर्य को अर्घ्य देना चाहिए।

अंश :-

अथांशु काश्यपस्ताक्ष्र्यः ऋतुसेनस्तथोर्वशी।

विद्युच्छत्रुर्महाशंखत्सहोमासं नयन्त्यमी।

सदा विद्रावणम्नो जगन्मङ्गलदीपकः।

मुनीन्द्रनिवहस्तुत्यो भूतिदोशुभवेन्मम।।

अंशुमान् सूर्य (आदित्य) मार्गशीर्ष मे कश्यप ऋषि, उर्वशी अप्सरा, ऋतसेन गन्धर्व, महाशंख नाग, तार्क्ष्य यक्ष तथा विद्युच्छत्रु राक्षस के साथ अपने रथ पर संचरण करते हैं।

अन्धकार का नाश तथा शत्रुदमन करने मे समर्थ, सारे जगत के मगल दीपक और मुनिवृन्दो द्वारा नित्य वन्दनीय भगवान् अंशुमान् हमें सदा ऐश्वर्य प्रदान करें। अंशुमान् आदित्य नौ सहस्र किरणों से तपते हैं और उनका वर्ण हरा है।

भगवान् सूर्य के दशम स्वरूप को अंशुमान् कहते हैं। ये मार्गशीर्ष मास के अधिपति है। यह वायुरूप में प्राणतत्त्व बनकर समस्त प्राणियों को सजग, सतेज तथा प्रसन्न बनाये रखते है। तात्पर्य यह है कि वायु में भी सूर्य का तत्त्व समाहित है। अंशु का एक अर्थ है, रश्मि या ऊष्मा। मार्गशीर्ष मास में भगवान् सूर्य अंशुमान् रूप से शीत के प्रभाव को कम करके प्राणियो को सुख देते है। पुराणो मे अंशुमान् सूर्य वायुरूप से कश्यप-अदिति के पुत्र हैं। वस्तुत यही अंशुमान् ऋग्वेद में वर्णित 'अंश आदित्य' के रूप में उल्लिखित है।

धाता आदित्य

धाता कृतस्थली हेतिर्वासुकी रथकृन्मुने।

पुलस्त्यस्तुम्बरुरिति मधुमास नयन्त्यमी।

धाता शुभस्य मे दाता भूयो भूयोऽपि भूयसः।

रश्मिजाल समाश्लिष्टस्तमस्तोमविनाशन.।।

जो भगवान आदित्य (धाता) चैत्र मास में कृतस्थली अप्सरा, पुलस्त्य ऋषि, वासुकी सूर्य, रथकृत यक्ष, हेति, राक्षस तथा तुम्बरू गन्धर्व के साथ अपने रथ पर रहते हें उन्हें हम भूयोभूयः नमस्कार करते है। वे रश्मिजाल से आवृत होकर हमारे अन्धकार को दूर करे तथा हमारा पुनःपुनः कल्याण करें। उनका रक्त वर्ण है।

भगवान् सूर्य चराचर जगत की आत्मा है। पुराणो मे सूर्य को अनन्त कथाएँ है। सूर्य के बिना ससार में सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। सूर्य अपरोक्ष देवता हैं। वे ही सत् चित् आनन्दस्वरूप परमात्मा है। वेदों और उपनिषदों में उनकी अनन्तमहिमा का वर्णन मिलता है। सभी इनको किसी न किसी रूप मे मान्यता देते है। भगवान् सूर्य का अवतार कश्यप ऋषि की पत्नी अदिति के गर्भ से हुआ था, इसीलिए उन्हें आदित्य कहा जाता है। कश्यप पुत्र होने के कारण इन्हें काश्यप भी कहते है। धाता आदित्य सूर्य के बारह स्वरूपो में से दूसरे स्वरूप हैं। सारे जगत को धारण करने के कारण सभवत इनका नाम धाता रखा गया होगा।

■

अध्याय - चतुर्थ

'आदित्यगण और वरुण'

विश्लेषणात्मक विवेचन यास्क-आदित्य निर्वचन प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के अभिमत सहित

अध्याय - चतुर्थ

आदित्यगण और वरुण

अदिति बन्धन से मुक्ति दिलाने वाली देवी हैं। अदिति और कश्यप से उत्पन्न पुरुष सन्तान आदित्य हैं। वेद के दो प्रमुख सम्प्रदाय हैं - (1) ब्रह्म सम्प्रदाय (2) आदित्य सम्प्रदाय। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार आदित्य यजु. शुक्ल यजुष् के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा याज्ञवल्क्य द्वारा आख्यात हैं[1]:-

"आदित्यानि इमानि शुक्लानि यंजूषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येन आख्यायन्ते"।

आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि ग्रन्थ शुक्ल यजुर्वेद है।

"सर्वं वा अत्तीति तददितेरदितित्वम् सर्वस्यैवात्ता भवति सर्वमस्यात्तं भवति य एवमदितेरदितित्वम्।[2]"

"आदित्य परमात्मा तथा यजुर्वेद वरामहौ असि सूर्य व आदित्य - महो अस्ति। महस्तेसतो महिमा वनस्पते द्वादेवमहौ असि"[3]।

आदित्य गण में प्रमुख रूप से वरुण, धाता, विधाता का उल्लेख करणीय है।

शतपथ ब्राह्मण कहता है :-

---

[1] शतपथ ब्राह्मण (14 9 5 33.)।
[2] शतपथ ब्राह्मण (10 6 5 5)।
[3] यजुर्वेद (33 13)।

"अदिति के आठ पुत्र थे। किन्तु उनमे से सात ही आदित्य कहलाते थे। जो आठवॉ पुत्र मार्ताण्ड नाम अदिति ने उत्पन्न किया वह हस्तपाद आदि अवयवो से रहित एक मासपिण्ड मात्र था। आदित्यो ने देखा कि यह हम लोगों की आकृति से नहीं मिलता अत. उन्होंने उस के अवयव आदि विभाजित किये। तब यह एक तेजस्वी मनुष्य के रूप में परिणत हो गया। उसका नाम विवस्वान् हुआ और उससे सब मनुष्यों का जन्म हुआ"[1]।

आदित्य वस्तुतस्तु द्युलोकस्थानीय देवमाता से उद्भूत है। इनका स्वभाव अपनी माता से मिलता-जुलता है। जिस प्रकार अदिति सदैव बन्धन से अपने भक्त को मुक्त करने मे निरत रहती हैं। उसी प्रकार से आदित्य सदैव अपने भक्तो के कल्याण-सम्पादन के कार्य में लगे रहते है।

अदिति पद नञ्+दो अवखण्डने+क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न होता है। अदिति का अभेद अर्थ है बन्धनाभाव अर्थात् जो बन्धन से मुक्ति दिलाने वाली सर्वशक्ति सम्पन्न देवी है उन्हे अदिति नाम से जाना जाता है। अदिति से उत्पन्न पुरुष सन्तान को आदित्य नाम से अभिहित किया जाता है। आदित्य बारह हैं। पाश्चात्य और पौर्वात्य विद्वानो ने विवेचना करके जहाँ कहीं एक देवता को आदित्य कहा है वहॉ सामान्य रूप से वरुण को प्रधान माना गया है। जहॉ दो आदित्य बताये गये हैं वहॉ वरुण और मित्र का उल्लेख अभीष्ट है। जहॉ कहीं तीन आदित्यों का वर्णन होता है वहॉ वरुण,, मित्र, अर्यमा, सविता और भग का उल्लेख है। छः आदित्यों की गणना में वरुण, मित्र, अर्यमन् (अर्यमा) भग, दक्ष और अंश का उल्लेख प्राप्त होता है।

---

[1] शतपथ ब्राह्मण (3 1 3 3)

जहॉ सात अथवा आठ देवो के समूह 'आदित्यो' को बताया गया है वहॉ भी 'अदिति' के पुत्र के रूप में ही उन्हें दिखाया गया है। सात आदित्यो मे गणनीय है-

वरुण, मित्र, अर्यमा, भग, दक्ष, अश तथा आदित्य। आदित्यो में जब 8 आदित्य-चर्चा मे आये तो इनमें नाम गिनाए गये - वरुण, मित्र, अर्यमा, भग, दक्ष, अश, आदित्य और मार्ताण्ड। इसके पश्चात् आदित्य गण बारह की सख्या में उल्लिखित हैं जिनमें (द्वादश) आते है। वरुण, मित्र, अर्यमा, भग, दक्ष, अश, (मार्तण्ड) पूषन्, त्वष्टा, विष्णु, धाता, विधाता और सविता या सवितृ।

बृहदारण्यक उपनिषद् में भी-

कतमे आदित्या इति' की चर्चा मिलती है वहॉ बारह महीनों के बारह आदित्य अधिपति के रूप में उल्लिखित हैं - (वृहदारण्यक उप0 3/9/5)।

ऋग्वेद में एक बार (9/1/4) मे आदित्यों की माता अदिति नहीं वरन् वसुओं की पुत्री स्वर्णवर्णा मधुकशा उल्लिखित है।

आदित्य की न होकर अन्य देवताओं की है, क्योंकि अदितिपुत्र होने के नाते आदित्य केवल सूर्य ही नहीं अपितु अन्य देवता भी हैं। मित्र वरुण आदि ऐसे ही देवता है।

यास्क महोदय की आदित्य की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है-

(1) "आ+दा+य+आ+दा+त्य(त्) का आगम आदित्य।

वह नक्षत्रों की कान्ति का आदान या हरण का लेता है इसलिए अन्य सब नक्षत्रों की कान्ति (द्युति) फीकी पड़ जाती है इसलिए वह आदित्य है - 'ज्योतिषा भासमादत्ते इत्यादित्यः यह अर्थ भी

(2) आ+दा+य' वाले निर्वचन को सूचित करता है।

(3)वह अपनी कान्ति अथवा आभा से सर्वत्र दीप्त रहता है इसलिए आदित्य कहलाता है - 'स्वभाषा आदीप्यत् इति आदित्य.।'। इस अर्थ से भी 'आ+दीप् +आ+दी+त्य' के निर्वचन की सूचना मिलती है।

(4) वह अदिति का पुत्र है इसलिए आदित्य है - अदितेः पुत्र इत्यादित्यः।

स्पष्टतः इससे अदिति+य निर्वचन अभिप्रेत है। पाणिनि भी इसी को मानते है।

सत्यार्थ प्रकाश मे भी -

दो अवखण्डने +क्तिन्=दिति (बन्धन) विनाश शीलता

नञ्+दिति=अदिति=अदिति(बन्धनाभाव, बन्धन से मुक्ति दिलाने वाली देवी, अविनाशी)

ण्यत् = आदित्यः

(सत्यार्थ प्रकाश प्र0सं0, पृष्ठ-26)

अब आकाश और आदित्य इन दोनो ध्यान में रखकर उसके वाचक छह शब्दों के निर्वचन किये जा रहे हैं -

(1) स्वर आदित्य है, अच्छी तरह चलने वाला है, अच्छी तरह तितर-वितर करने वाला या प्रेरक है, रसों में अच्छी तरह व्याप्त है, नक्षत्रो को कान्ति मे व्याप्त है, (अपनी) कान्ति से व्याप्त है। इससे आकाश (अर्थ वाले स्वर) की व्याख्या हो गयी।

(2) पृश्नि (का अर्थ) आदित्य होता है क्योकि 'वर्ण उसको व्याप्त करता है ऐसा नैरुक्तो का कहना है। (यह) रसो का अच्छी प्रकार से स्पर्श करने वाला है, नक्षत्रो की कान्ति का अच्छी प्रकार से से स्पर्श करने वाला है। अपनी कान्ति से अच्छी प्रकार से स्पर्श करने वाला है। अपनी कान्ति से अच्छी प्रकार स्पृष्ट (युक्त) है। अव आकाश अर्थ वाले पृश्नि को लेते है - (वह) नक्षत्रों और पुण्यकर्ताओं के द्वारा अच्छी प्रकार से स्पृष्ट (युक्त) है।

(3) नाक का अर्थ है आदित्य -क्यो कि वह आभाओ का नेता अथवा ज्योतिष्पिण्डों का प्रणेता है। अब आकाश अर्थ वाले नाक को लेते है। 'क' सुख का पर्याय है, उससे रहित (अक) का (उसमें) प्रतिषेध होता है (इसलिए वह न+अक=नाक कहलाता है। उस लोक मे जा चुके हुए मनुष्य के लिए वहॉ कोई असुख (दुख) नहीं है। क्यो कि पुण्यकर्ता ही वहॉ जाते है।

(4) गो (का अर्थ) आदित्य होता है क्यो कि वह रसो को पहुॅचाता है, अन्तरिक्ष में गमन करता है अब आकाश अर्थ वाले 'गो' को लेते हैं। (आकाश 'गो' इसलिए कहलाता है, क्योंकि वह पृथिवी से अधिक दूरी पर गया हुआ है, क्योंकि वह उस पर नक्षत्र चलते है।

(5) विष्टप् (का) अर्थ आदित्य होता है (क्यों कि वह) रसों में पूर्णतया प्रविष्ट है, ज्योतिष्पिण्डों की कान्ति में व्याप्त है अथवा (अपनी) कान्ति से आविष्ट (व्याप्त) है। अब आकाश अर्थ वाले

विष्टप् को लेते है। वह विष्टप् इसलिए कहलाता है। (क्योकि वह) ज्योतिष्पिण्डों और पुण्यकर्ताओं के द्वारा आविष्ट (व्याप्त) है।

(6) अब नभस् आदित्य का उल्लेख करते है – (क्योंकिवह) कान्तियो का नेता है, ज्योतिष्पिण्डों का सचालक है अथवा मनस् शब्द उल्टा हो गया होगा, अथवा यह नहीं चमकता (ऐसा) नहीं, इस कारण से। इससे आकाश (अर्थ वाले 'नभस्' शब्द) की व्याख्या हो गयी।

निरुक्तकार द्वारा कृत संकेत :-

आदित्य अर्थ वाले 'स्वर' की व्याख्या 'सु अरण': है इससे उसकी निष्पत्ति 'सु+ ऋ+0 स्वर' अभीष्ट प्रतीत होती है। दूसरी व्याख्या 'सु ईरण.' की गयी है। व्याख्याकारो का कथन है कि यह अर्थ निर्वचन है न कि शब्द निर्वचन। यह वास्तव मे सु+अरण. की ही व्याख्या है। दूसरी, तीसरी और चौथी व्याख्याओ में 'स्वृत' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका पदच्छेद 'सु+ऋत' है। 'ऋत्' शब्द ऋ (गतौ) से निष्पन्न है। इससे यह स्पष्ट है कि इन तीनों ही अर्थों में, यास्क को सु+ऋ+0 =स्वर निर्वचन अभीष्ट है। आकाशार्थ 'के' स्वर का भी यही निर्वचन उन्हे काम्य है।

(ख) आदित्यार्थक 'पृश्नि' की चार व्याख्याएँ की गयी है। उनमे प्रथम नैरुक्तों की व्याख्या मे 'प्राश्नुते' क्रियापद का प्रयोग किया गया है। इसका पदच्छेद है प्र + अश्नुते'। अश्नुते का अशु (व्याप्त्यर्थक) का रूप है। अतः इस अर्थ में पृश्नि का निर्वचन प्र+अश्+नि> पृ + अश्+नि > पृश्नि होगा। शेष तीन व्याख्याओ में 'संस्प्रष्टा या सस्प्रष्ट.' शब्द का प्रयोग किया गया है जो सम् उपसर्गपूर्वक स्पृश् धातु के तृच् प्रत्ययान्त रूप है इसलिए इन अर्थों मे इसका निर्वचन

'सम्+ स्पृश्+ नि > सम्+ स्पृश् +नि > पृश्नि होगा। यही अन्तिम निर्वचन आकाशार्थक 'पृश्नि' मे भी अभिप्रेत है।

(ग) नाक शब्द की व्याख्या मे आदित्य को नेता और प्रणय कहा गया है ये दोनों शब्द नी धातु से निष्पन्न हैं। इसका निर्वचन नी+अक् > नायक > नाक होगा। आकाशार्थक 'नाक' 'क' का अर्थ है सुख अर्थात् ऐसा स्थान जहॉ सुख ही सुख है नाक कहलाता है (न कम् = अकम् नास्ति अकम् यत्र तत् नाकम्)

(घ) आदित्यार्थक गौ शब्द की दोनों व्याख्याओं मे गमयति और 'गच्छति' शब्दो का प्रयोग किया गया है। ये दोनों गम् के रूप हैं - प्रथम णिनन्त रूप हैं और दूसरा साधारण। इसलिए इन दोनो व्याख्याओं के अनुसार इसका निर्वचन गम् + ओ (अ) होगा। आकाशार्थक 'गो'। शब्द की व्याख्या में भी 'गता' और 'गच्छन्ति' जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है, इसलिए उसका भी निर्वचन पूर्ववत् ही होगा, यह स्पष्ट है।

(ङ) आदित्यार्थक विष्टप् शब्द की सभी व्याख्याओं में आविष्ट शब्द का प्रयोग मिलता है। जो'आ' उपसर्गपूर्व क विश् (प्रवेश करना) का क्त प्रत्ययान्त रूप है। इससे स्पष्ट है कि इन सभी अर्थों में 'विष्टप्' का निर्वचन विश्+तप् > विष्टप् ही काम्य है। आकाशार्थक 'विष्टप्' के विषय में भी यही बात है।

(च) आदित्यार्थक 'नभस्' की तीन व्याख्याएँ की गयी हैं। प्रथम व्याख्या में उसे 'नेता भासाम्' कहा गया है। इसी को दूसरे शब्दों में ज्योतिषा प्रणय कहा गया है। नेता नी से बना शब्द है -

इसलिए इसका निर्वचन होगा – नी+भास् > न भास > नभस्। इसके दूसरे निर्वचन को स्पष्ट करते हुए यास्क ने कहा है – अपि वा मन एव स्याद् विपरीत' इसका सीधा तात्पर्य यह है कि भनस् शब्द ही वर्णविपर्यय के द्वारा 'नभस्' हो गया है। कतिपय व्याख्याकारों ने भासनार्थक भन्द्, धातु के असुन् प्रत्ययान्त रूप 'भन्दस्' से 'भनस्' को विकसित माना है। इस प्रकार 'नभस्' का निर्वचन 'भन्द्'+असुन्> भन्दस् > भनस्+नभस्। अन्तिम निर्वचन में कहा है 7 न भातीति वा। इसका तात्पर्य यह है प्रथम 'न भातीति नभः'। इस व्युत्पत्ति के आधार पर – न+भा+असुन्= नभस् बनेगा। पुन. 'न नभ्भस् इति नभस्। इस प्रकार पुनः नञ् का प्रयोग कर उसका लोप हो जायेगा। इसका तात्पर्य यह होगा कि प्रस्तुत में एक प्रयुक्त होगा किन्तु वह दो नभो का अर्थ देगा। ये ही निर्वचन आकाशार्थक नभस् के होगे। राजवाडे ने इसे इस प्रकार दिखाया है – न + त > भा > अनभ् > नभस्।

वरुण द्युलोक के सबसे उत्तम एवं प्रभावशाली देव है। वरुण के मूलरूप के विश्लेषण के निमित्त कतिपय तथ्यों का परिज्ञान परमावश्यक है।

(1) वरुण नैतिक स्तर पर महनीय देवता थे।

(2) वरुण यदा कदा मित्र के साथ आकाश में संचरणशील बताये गये हैं[1]।

(3) वरुण का सम्बन्ध ऋत से है। ऋत को ही ब्राह्मणों में 'व्रत' कहा जाता है। त का मूल अर्थ ही है व्रत, याग का नियमित अनुष्ठान। अनुष्ठानिक व्यवस्था से ही ऋत का विकसित अर्थ हुआ 'नैतिक व्यवस्था' में तथा 'सृष्टिगत व्यवस्था' में।

---

[1] हिरण्यरूपमुजषसो व्युष्टा वय स्थूणमुद्रिता सूर्यस्य आरोहथो वरुण मित्र गर्तमतश्चक्षा ये आदिति दिति च ।।
(ऋग्वेद0 5 62 8)

(4) मनुष्यों के द्वारा जो भी नैतिक नियम सम्पादित किये जाते है उनकी निरीक्षण व्यवस्था वरुण किया करते है। इसके लिए वरुण महोदय चर (दूत अथवा स्पश) की सेवा लेते है। स्पश हेतु वे सूर्य को नियुक्त करते हैं जो दिन मे कृत कार्यों का परिवीक्षण करते है। रात मे तारागण इस कार्य का निर्वहन करते है। इसी कारण 'स्पश.' बहुवचनान्त पद द्वारा इनका सकेत किया गया है। इन स्पशों के द्वारा आकाश और पृथ्वी को अच्छी तरह से देखा जाता है।

परिस्पशो वरुणस्य स्मदिष्टा

उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके।[1]

वरुण के सुन्दर चुने हुए दूत सुन्दर रूप वाले द्यौ और पृथिवी को चारों ओर से देखा करते हैं।

वरुण आदित्य गण में से एक देव हैं। आदित्यगण भी अपने दूतों द्वारा मानवों के हृदयों मे विद्यमान पुण्य एवं पाप का निरीक्षण करवाते है।[2]

''त आदित्यास उखो गभीरा

अदब्धासो दिप्सन्तो भूर्यक्षाः

अन्तः पश्यन्ति वृजिनोत साधु।।

सर्वं राजभ्यः परमा चिदन्ति।।

6. वरुण मानवमात्र के नैतिक आचरणों के द्रव्य है, वह मनुष्य द्वारा कृत पुण्यकर्म हेतु पुरस्कृत करते हैं और कृत पाप कर्मों पर दण्ड देते हैं। जो उनके व्रत का उल्लंघन करते हैं।

---

[1] ऋग्वेद0 (7 87 3)

[2] ऋग्वेद0 (2.27 3)

उन्हें वह पाश से बॉध देते हैं तथा जलोदर रोग से युक्त कर देते हैं। उनका सम्बन्ध जल के साथ सुनिश्चित है। इसीलिए वह उन्हें जलोदर रोग से आक्रान्त कर देते है। ऐतरेय ब्राह्मण में शुन. शेप के आख्यान मे राजा हरिश्चन्द्र वरुण के स्थिर नियमों के उल्लघन करने के फलस्वरूप जलोदर रोग से आक्रान्त हो जाते है। शुन शेप के आलम्भन से ही उसका उदर रोग समाप्त होता है। वरुण का यह वह गुण है जिसके द्वारा वह पुण्य अथवा सत्कर्तव्यपालन से प्रसन्न होकर कार्य करने वाले को पुरस्कार देता है। वह नियम के उल्लंघनकर्ता को निश्चित तौर पर दण्ड देते हैं। किन्तु जो व्यक्ति अपने कृत पापकर्म का शुद्धमन होकर प्रायश्चित करता है उसे वे स्वीकार करते है और प्रसन्न हो जाते है। यागानुष्ठान में यदि होता से कोई त्रुटि होती है और उसके लिए वह वरुण देव से क्षमा माँग लेता है तो वरुण देव अवश्य उसे क्षमा कर देते हैं तथा उसका ऐश्वर्यवर्द्धन करते है। दशरात्र याग के नवमदिन प्रायश्चित का विधान है। यद्यपि बहिष्पमान स्तोत्र की प्रथम ऋचा में अनेक देवों का उल्लेख है किन्तु ताण्ड्य ब्राह्मण मे इस विषय में कहा है :-

"वारुण्येषा भवति। यद् द्वै यज्ञस्य दुरिष्टं भवति
तन् वरुणो गृह्णाति तदवय जयति।"

यह ऋचा वरुण के लिये ही है। याग में जो अशुद्धि से भाग दिया गया है उसे ब्ररुण ग्रहण करता है और दी गयी आहुति मे से उस अंश को वह काट लेता है। इसलिए वह यागादि में किये गये कार्यो मे पड़ने वाले दोषों के लिए क्षमायाचना करने पर त्रुटियों को क्षमा करता है।

निरुक्तकार ने वरुण की व्युत्पत्ति करते समय ''वरुणो वृणोर्तीति सत'' सवको आच्छादित करने के कारण ही उन्हे वरुण कहा है।[1] गोपथ ब्राह्मण के 1/7 में भी 'वरुण' की यही व्युत्पत्ति स्वीकारी गयी है ''यच्च वृत्वा अतिष्ठत् तद् वरुणो अभवत्। त वा एत वरण सन्त वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण''। वृ-आच्छादने धातु से निष्पन्न यह शब्द सम्भवत. मूलरूप मे आकाश के विशाल विस्तार को द्योतित करता था। मनुष्य के नेत्रो की सीमा से भी आगे सुदूर क्षितिज के पार तक विस्तृत आकाश ने ही प्राचीन आर्यों के हृदय मे वरुण जैसे सर्वद्रष्टा, सर्वज्ञ एवं मनुष्य की प्रत्येक क्रिया पर सूक्ष्मदृष्टि रखने वाले, दैवी शासक कल्पना का आदिस्रोत था। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान रॉथ के इस मत में सत्य का कुछ अंश अवश्य दिखता है। 'वरुण विशेषतः रात्रि में आकाश से सम्बन्धित रहते थे। रात्रि मे प्रकाश के अभाव के कारण नेत्रो को देखने की शक्ति किञ्चित् संकुचित हो जाती है। उस समय (रात्रि में) आकाश सिमटकर छोटा सा दिखाई पड़ता है तब वरुण और उसके भक्तों और उपासकों मे अधिक समीपता की भावना आ जाती है[1]। आचार्य सायण ने भी ऋ0वे के भाष्य में कहा है कि अस्तगत सूर्य ही वरुण कहलाता है[2]।

''अस्तंगच्छन् सूर्य एव वरुण उच्यते''।

---

[1] यास्क - निरुक्त (10 4)।

[1] इस सम्बन्ध मे शतपथ ब्राह्मण 5 2 5 17 का भी कथन महत्त्वपूर्ण है जिसमें प्रत्येक काली वस्तु को वरुण की है - कहा जाता है।

[2] ऋग्वेद0 - 7 87 1।

वरुण का सम्बन्ध रात्रि के कृष्ण वर्ण से जोडा गया वे रात्रि तक में ही क्रियाशील नहीं रहते। वे प्रमुखतः सर्वद्रष्टा हैं और द्युलोक के देवो में उनका नाम समादरपूर्वक लिया जाने योग्य है।

वरुण तथा उनके ग्रीस एव ईरानी प्रतिरूप क्रमश· ऊरॉनस् तथा अहुरमज्दा का प्रथम एव द्वितीय अध्यायों मे विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। वैदिक देवमण्डल मे केवल वरुण के लिए ही राजा या सम्राट शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]।

ऋग्वेद 2/27/10 मे उल्लिखित है .- कहा गया है कि वरुण समस्त प्राणियों का राजा है, चाहे वे देवता हों अथवा चाहे असुर या मनुष्य .-

''त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवाः असुरा ये च मर्त्याः''। 5/85/3 में उसे सम्पूर्ण भुवन का राजा (विश्वस्य भुवनस्य राजा तथा 7/87/6) में समस्त सत् पदार्थों का स्वामी (सतो अस्य राजा) कहा गया है। राजा के रूप में किसी पर आश्रित न होने के कारण वह स्वराट है।[2]

वरुण के निवास स्थान का भी ऋग्वेद में प्राय· वर्णन मिलता है। उनका प्रसाद स्वर्णमय है और वह सर्वोच्च आकाश में बना हुआ है। आ यद् योनि हिरण्यय वरुण मित्र सदथ।)[3] ऋग्वेद के 'तिष्ठथो रथं परमे व्योमनि' (5/63/1)।

---

[1] ऋग्वे0 (1 27 7,8,4 1.2,5 40 7 आदि)।
[2] ऋ0 वे0 (2.28.1)।
[3] ऋ0वे0 (5 67 2)।

वरुण का भवन अत्यन्त विशाल है वह सहस्रो स्तम्भो (स्थूणों) पर आधृत है 'वहन्न गर्तमाशाते' (5.68.5) सहस्रस्थूण आसाते (2.41.5)। अपने इसी भवन मे बैठकर वे जगत् के सम्पूर्ण कार्यों का निरीक्षण करते है।

"अतोविश्वा न्यद्भुता चिकित्वां अभि पश्यति" - (1-25-11) सायंकाल सूर्य (आदित्य) भी जगत् के कार्यों का विवरण देने के लिए उनके घर जाता है। (7/60/1)

वरुण ने संसार के पालन के लिए कुछ निश्चित नियमो (व्रतानि) का निर्माण किया है और संसार की प्रत्येक क्रिया इन्हीं नियमों से नियन्त्रित होती है उनके व्रतों के कारण ही पृथ्वी एवं आकश अपने-अपने स्थान पर स्थित हैं।

"अस्तम्भनात् द्यामसुरो विश्ववेदा अभिमीत वरिमाणं पृथिव्याः।

आसीद् विश्वा भुवनानि सम्राट् विश्वेतानि वरुणस्य व्रतानि।" (8.42.1)

उन्होंने ही सूर्य (आदित्य) को द्युलोक में स्थापित (6.70-1) करके प्रकाशित किया है (7/86/1,8/41/10 आदि, वरुण ने ही आकाश मे विचरण करने का मार्ग निर्धारित किया है।)[1] उसके साथ ही वरुण देव ने मनुष्यो के हृदयो मे सद्विचार, जल में अग्नि तथा पर्वतो में सोम को भी स्थापित किया (हृत्सु क्रतु वरुणो अप्सु अग्निं दिवि, सूर्यमदधात् सोममद्रौ - 5/85/2)। अपने नियमों से राजा वरुण संसार का पालन करते हैं (ऋतेन विश्वा भुवना विराजयः 5/33/7)। इनके नियम वहॉ तक व्याप्त हैं जहॉ तक सूर्य (आदित्य) के घोड़े भी नहीं जा सकते। (ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वा सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान् ऋ 5/32/1)।

---

[1] 'उरूहि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थामन्वेतवा उ'। (1 24 8)।

वरुण भी सम्पूर्ण प्राणियो के साथ समस्त भुवन मे निवास करते हैं (परिधामानि ममृशद् वरुणस्य पुरो गये, (8/48/7 आदि)। वरुण सर्वज्ञ है वे आकाश मे उड़ते हुए पक्षियो की स्थिति को तथा समुद्र मे चलते हुए पोतों की गति को जानते हैं। जो कुछ भी इस संसार में हो चुका है या होगा वरुण को उन सबका ज्ञान है। (वेदा यो वींना पदम् अन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः 1/25/7)अतो विश्वानि अद्भुता चिकित्वां अभिपश्यति। कृतानि या च कर्त्वा, 1/25/11)।

वरुण का प्रभाव तथा उनका माहात्म्य इतना अधिक व्यापक है कि आकाश मे उड़ने वाले पक्षी तथा दूरगामिनी सरिताएँ भी उनके साम्राज्य की सीमा, बल तथा क्रोध का पार नहीं पा सकती। (न हि ते क्षत्रं न सहो न मन्युं त्रयश्चनामी पतयन्त आयु.। नेमा आपो अनिमिषं चरन्ती- 1/24/6)।

वरुण के नियम अनतिक्रम्य और पूर्णरूपेण स्थिर हैं इसलिए वरुण के लिए प्रायः धृतव्रत विशेषण का प्रयोग हुआ है। मित्र और वरुण प्रकृति के नियम ऋत के पोषक तथा रक्षक (ऋतावृधौ, 1/23/5) है। देवता तक मित्र और वरुण के बनाए गये नियमों का पालन करते हैं और उनको तोडने का साहस नहीं कर सकते (न वा देवा अमृता आ मिनन्ति व्रतानि ने मित्रा वरुणा ध्रुवाणि, 5/69/4), विश्वेदेवा अनु व्रतं, 8/41/4। उन व्रतों का उल्लंघन करने वाला व्यक्ति वरुण का कोपभाजन बनता है। (7/86/3,4)। नैतिकता तथा सत्कर्मों के सर्वोत्कृष्ट परिपालक होने के कारण वरुण पापियो को विशेष रूप से झूठ बोलने वालो को कड़ा दण्ड प्रदान करते है। ऐसे व्यक्तियों को अपने पाशों से बॉध लेते हैं। जो सात-सात

श्रृड्खलाओं से बने हुए है और तीन प्रकार के है।[1] स्थान- स्थान पर वरुण से वैदिक कवियो ने प्रार्थना की है कि हमें अपने पाशो से छुडायें।[2]

वरुण स्वयं तो सर्वज्ञानी (चिकित्वान्) हैं ही साथ ही उनके कुछ दूत या गुप्तचर भी है। ये आकाश से उतरकर भूमि पर विचरण करते हुए अपनी सहस्रो ऑखो से सब कुछ देख लेते है (दिवः स्पश. प्रचरन्तोदमस्य सहस्राक्षा अभि पश्यन्ति भूमिम्)[3]।

इन बुद्धिमान चरों को कोई धोखा नहीं दे सकता।

(सन्ति स्पशो अद्ब्धासो अमूरा.)।[4]

वरुण को प्रायः ऋग्वेद में असुर या शक्तिशाली कहा गया है। अपनी माया या रहस्यात्मक शक्ति से वे जगत् का पालन करते हैं, सूर्य से पृथ्वी को नापते हैं और उसे मेघाच्छन्न करवाकर मधुबिन्दुओं की वर्षा करवाते हैं। (इमाभूष्वासुरस्य श्रुतस्य महीं मायां वरुणस्यप्रवोचम् . . .वि योममे पृथिवी सूर्येण। तमभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि पर्जन्य द्रप्सा मधुमन्त ईरते; 5/85/5 तथा 5/63/4)।

वरुण का जल से विशेष सम्बन्ध है। ऋग्वेद के पंचम मण्डल का 63 सूक्त उनकी जलवर्षण भूमि का वर्णन करता है। (ऋ07/64/2)। वरुण समुद्र के जल में विचरण करते हैं। (अद्भिर्याति वरुणः समुद्रैः 1/161/16)। वरुण ने ही समुद्र को चारो ओर बेलाबद्ध किया है। (अवसिन्धु वरुणो द्यौरिव स्थात्, 7/87/6)। सातों नदियॉ वरुण के विशाल मुख (समुद्र) मे

---

[1] "ये तो पाशा वरुण सप्तसप्त मेघा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्त । सिनन्तु सर्वे अनृत वदन्त य सत्यवाधति तं सृजन्तु,"(अथर्ववेद 4 16.6)

[2] प्रनोमुञ्यन्त वरुणस्य पाशात् उदुत्तम मुमुग्धि नो वि पाश मध्यम चृत - (ऋग्वेद 6 74 4,1 25 21 आदि)।

[3] अथर्ववेद (4 16 4)।

[4] ऋग्वेद (6 67 5)।

जाकर गिरती है।[1] एक स्थान पर वरुण को नदियो का वस्त्र बताया गया है। (वना वसानो वरुणो न सिन्धून् (9/10/2)। प्रतीत होता है कि वरुण से सम्वन्धित एव समुद्र मुख्य रूप से अन्तरिक्षगत हैं। आपस् सूक्त 7/49 में कहा गया है कि अन्तरिक्ष में वर्तमान जलों के बीच में अनके राजा वरुण मनुष्य के कर्मो का अवलोकन करते हुए विचरण करते है। (यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्, ऋचा-3) वरुण अपने कवन्ध अथवा मशक को उलटा कर पृथ्वी पर पानी बरसाते हैं। (नीची नवार वरुण. कवन्धं प्रपसर्जा रोदसी अन्तरिक्षम् उनत्तिभूमिं पृथिवीमुतद्याम् (5/85/3,4)। ऋग्वेद मे वरुण का स्पष्ट सम्बन्ध आकाश से बताया गया है। (स समुद्रो अपीच्यस्तुरो द्यामिव रोहति। आकाश मे रहने वाले वरुण का अन्तरिक्ष के जलों से सम्बन्ध होना स्वाभाविक ही है।[2]

अथर्ववेद में भी वरुण के विषय में पर्याप्त नवीन मन्त्र प्राप्त होते हैं वरुण शब्द लगभग 150 बार अथर्ववेद में आया है। उसके लिए यहॉ शतवृष्ण्य (अत्यन्त शक्तिशाली या सैकड़ों कामनाओं को पूर्ण करने वाले अथर्व वेद 1/3/3) असुर, उग्र (अथर्ववेद 10/10/2), सत्यधर्मा (निश्चित नियम वाले, अथर्ववेद 1/10/3) आदि विशेषण प्राप्त हुए हैं। अथर्ववेद में वरुण देव की महत्ता को सबसे अधिक सशक्त शब्दो मे अभिव्यक्त करने वाला सूक्त 4/16 जो समस्त वैदिक साहित्य में अद्वितीय है। इस ससार के पालक वरुण सभी मनुष्यों को अत्यन्त समीप से देखते हैं। छिपकर भी यदि कोई कुछ करता है तो वे उसे भी जानते हैं। बैठे, चलते,

---

[1] ऋग्वेद (8 69 12)।

[2] वरुण के जल से सम्बन्ध की विशिष्ट व्याख्या के लिए देखिये - Heinrich Luders Varuna, Vol [(Varuna und die Wasser), Gottingen 195

छिपे हुए या किसी गुप्त स्थान में स्थित मनुष्य को भी वे जानते है। जहाँ पर दो व्यक्ति छिपकर अंकणा करते हैं वहाँ एक तीसरे व्यक्ति वरुण उपस्थित रहते है-

वृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिवपश्यति।

यस्तायन्मन्यते चरन् सर्वदेवा इद विदु.।।

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति योनिलाय चरति य. प्रतकम्।

द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस्तृतीय ।।

(अथर्ववेद 4/16/1,2)

वर्षा, जल से इसी सम्बन्ध के कारण संभवतः वरुण को सौ अथवा सहस्र ओषधियो का स्वामी कहा गया है और उनसे मृत्यु तथा कष्ट को दूर रखने की प्रार्थना की गयी है।

(शतं ते राजन् भिषजः सहस्रं उर्वी गभीरा सुमतिष्ट अस्तु।

वाधस्व दूरे निर्ऋति परार्थः कृतंचित् एनः प्रमुमुग्धि अस्मात् (1/24/9)। ऋग्वेद में कवि वरुण से प्रार्थना करता है कि वे उसकी स्तुति को स्वीकार करें और प्रसन्न होकर उसकी आयु क्षीण न करें। (अहेलमानो मे वरुणेह बोध्युरुशंस मान आयु. प्रमोषीः।)

पृथ्वी और आकाश के अन्दर जो कुछ भी है उस सबको वरुण जानते है। यहाँ तक कि प्राणियों के निमेष तक उनकी गिनती मे रहते हैं। (4/16/5, सख्याता अस्य निमिषोजनानाम्) आकाश में उड़ने वाला भी वरुण के पाशो से नहीं बच सकता। उनके दूत सब जान लेते है। (4/16/4)। पृथ्वी और अन्तरिक्ष के समुद्र वरुण की कुक्षि है किन्तु वे थोड़े

से जल मे भी अपने को सीमित कर लेते हे (उतो समुद्रो वरुणम्य कुक्षी, उतम्मिन्नल्प उदके विलीनः 4/16/3)।

वरुण को राजा माना जाता था अतः राज्य और राजत्व की[1] प्राप्ति के लिए अनेक ऐन्द्रजालिक मत्रो मे वरुण का आह्वान किया गया है राज्य से भ्रष्ट राजा से सन्तुष्ट होने पर वरुण पुनः राज्य दिलवाते है। शत्रु के लिए आभिचारिक मत्रो से युक्त जल को चारो दिशाओ मे फेंकने का विधान है। ये जल वरुण के पाश बनकर शत्रु को तथा उसके भोजन एवं प्राणों को आबद्ध कर लेते हैं।[2]

सर्वप्रथम अथर्ववेद में ही वरुण को पश्चिम दिशा का स्वामी कहा गया है इस दिशा से आने वाले सर्पों तथा अन्य आपत्तियो से वे मनुष्यो की रक्षा करते है।[3]

अर्थववेद में वरुण के घर का उल्लेख मिलता है। यह घर स्वर्णनिर्मित है और जल मे जमा हुआ है (अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथ.)।[4]

शुक्ल यजुर्वेद में वरुण के लिए केवल छः पूरे सक्त प्राप्त होते हैं और इनमें से एक भी नया नहीं है। सभी ऋग्वेद से लिए गये हैं। शेष मंत्र अधिक महत्तपूर्ण नहीं है। लगता है कि यजुर्वेद मे वरुण अपने ऋग्वेद महत्त्व को त्याग चुके हैं। यजु0 8/37 में इन्द्र को 'सम्राट' तथा वरुण को केवल 'राजा' कहा गया है। (इन्द्रश्च सम्राट वरुणश्च राजा) तथा वरुण को शक्ति या ओजस का अधिपति बताया गया है। 30/30 और 10.25 मे उनके लिए सत्यौजाः विशेषण

---

[1] अथर्ववेद (3 4.5,6, 6 88 2 तथा 3 5 4)।
[2] अथर्ववेद (10 6 44)।
[3] अथर्ववेद (3.27.3)।
[4] अथर्ववेद (7 83.1)।

प्रयुक्त होता है 7/9 में मित्रावरुणी को ऋतावृधी भी कहा गया है। वरुण के पाशे का भय अव भी पूजक के हृदय मे बना हुआ है। 18/83 मे यह वरुण और इसके पाशों को प्रणाम करता है। (नमो वरुणाय अभिष्ठितो वरुणस्य पाशः) और 22/12 में आदित्य (अदिति के पुत्र) वरुण से उन पाशों को शिथिल करने की प्रार्थना की गयी है। इस अदिति की कृपा से मनुष्य अदिति (मुक्ति= बन्धनहीनता दिति = बन्धन) प्राप्त करना है। वरुण का जल से अविच्छेद सम्बन्ध है। 26/1 में कहा गया है कि जिस प्रकार अग्नि का पृथिवी से, वायु का अन्तरिक्ष से, तथा आदित्य (सूर्य) द्यौः से सम्बद्ध हैं उसी प्रकार वरुण और आप भी परस्पर संसक्त हैं।

आपश्च वरुणश्च सन्नेते तेमे सनमतामद.।

महाकाव्यों तथा पुराणों में वरुण ऐसे अश्वों के स्वामी के रूप मे प्रसिद्ध है जिनका समस्त शरीर श्वेत किन्तु एक कर्ण काला है। श्रीमद्भागवत 9/15/6,7 मे जब गाधि अपनी पुत्री सत्यवती के विवाह हेतु ऋचीक कन्या शुल्क के रूप में ऐसे एक सहस्र घोड़े मॉगते हैं, तो वे वरुण से ही उनको लाकर देते है। इस धारणा का बीज यजु00 29/58 मे खोजा जा सकता है। यहॉ कहा गया है कि सम्पूर्ण रूप से कृष्ण किन्तु एक चरण से श्वेत अश्व वरुण का होता है। (वारुणः कृष्णः एकशितिपात् पेत्वः)।

तैत्ति0 संहिता मे कहा गया है कि यदि दो व्यक्ति आपस में कोई समझौता या प्रतिज्ञा करें तो उसे उनमें से पहले भग्न करता है अथवा समझौते को तोड़ता है उसे वरुण अपने पाशो से जकड़ देते है –

यो सममाते तयोर्यः पूर्वो अभिद्रुह्यति तं वरुणो गृह्णाति।।

वस्तुत· कृष्ण यजुर्वेद की सहिताओ में आकर वरुण का पूर्व उत्कर्ष एवं समादर सुरक्षित नही रह पाया था तथापि ऋग्वेद तथा अशतः अथर्ववेद में प्राप्त होता है किन्तु सक्षेप में उनके स्वरूप की मूल विशेषताएँ वे ही है जो ऋग्वैदिक काल में प्राप्त होती है।

तैत्तिरीय संहिता मे कहा गया है कि वरुण का वास जल मे है अत वरुण के विषय मे अवभृथ स्नान जल मे करने का ही विधान पूर्ण किया जाता है। इससे यजमान वरुण को अपने घर मे रहकर ही सन्तुष्ट करता है।

अपो अपभृथमवैति। अप्सु वै वरुण.। साक्षादेव वरुणमवयजते।

(तैत्तिरीय सहिता - 6/6/2)

एक दूसरे स्थान पर तो आप· (स्त्रीलिग) को वरुण की पत्नियाँ बताया गया है (आपो वरुणस्य पत्न्य आसन् - (5/5/4))। वरुण का अश्वो से विशेष सम्बन्ध बताया गया है। प्रजापति ने वरुण को एक अश्व प्रदान किया। यह उसका प्रमुख पशु है .-

प्रजापतिर्वरुणाय अश्वमनयत्। स स्वां देवतामार्च्छत्. . .।

(तैत्तिरीय सहिता - 2/3/12)

वरुण के पाशों का उल्लेख भी तैत्तिरीय सहिता में है। पापी व्यक्तियों को वे इसी से बॉधते हैं -

'वरुण एवं वरुणपाशेन गृह्णाति य· पाप्मना गृहीतो भवति।

(तैत्तिरीय संहिता - 2/3/13)

तैत्तिरीय संहिता के ही 6/6/3 में भी वरुण देव के पाशो का उल्लेख किया गया है और इसी खण्ड में ऋग्वेद 1/24/9 की भॉति वरुण की अनेक औषधियों का उल्लेख किया गया है।

ब्राह्मण काल मे भी वरुण के स्वरूप मे कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नही है। हॉ यह अवश्य है कि प्रजापति आदि के आगे वरुण एक अत्यन्त सामान्य कोटि के तुच्छ देवता हैं। जिनको समय-समय पर यज्ञ भाग तो दिया जाता है किन्तु अव उनसे भयभीत होने का कोई कारण नहीं रह गया है। क्योंकि उनकी सार्वभौम सत्ता बहुत पहले लुप्त मानी जा चुकी है। तथापि उनका नृपत्व अभी तक सुरक्षित है क्योंकि शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्ट उल्लेख मिलता है। (वरुणो वै देवानां राजा-शतपथ ब्राह्मण 12/8/3/10)। ब्राह्मणों की धारणा के अनुसार चक्रवर्ती राजा बनने के निमित्त राजसूय यज्ञ का सम्पादन किया जाना सर्वथा अनिवार्य है। अतएव यह उक्ति कि वरुण ने ही सर्वप्रथम राजसूय यज्ञ किया था और इसीलिए वे देवों के राजा बने - वरुणाद् ह वा अभिषिषिचानाद्. . .. .।

वरुणसेवा वा एष यद् राजसूयमिति। वरुणो अकरोदिति त्वेवैष एतत्करोति।।

(शतपथ ब्राह्मण - 5/4/3/1, 5/4/3/21)

शतपथ ब्राह्मण मे एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि वरुण ने अग्न्याधान के कृत्यो को विधिपूर्वक करके राज्य प्राप्त किया-

वरुणो हैनद् (अग्निं) राज्य काम आदधे (अग्न्याधानं चकार) स राज्यमागच्छत्। तस्मात् यश्च न, वरुणो राज्येत्येवाहुः।

(शतपथ ब्रा0 2/2/3/1)

ऐतरेय ब्राह्मण मे समुल्लिखित है कि एक राजा के रूप में वरुण देव को सम्मानर्नीय स्थान प्राप्त है। एक छोटा सा प्रसग है कि एक बार देवो के पारस्परिक अनैक्य के कारण असुरों ने उन्हे बहुत पीड़ित किया। तब देवो ने एकत्र होकर आपस मे यह निश्चय किया कि हम लोग अपने-अपने प्रिय शरीर राजा वरुण के पास ग्रहणक (उत्तरवर्ती काल का सम्भवत गिरवी शब्द) के रूप में रख दे और जो छल से विभक्त हो, उसे कभी अपना शरीर प्राप्त न हो-

....ते अब्रुवन् हन्त या एव न इमा प्रियतमाः तन्वः ता अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे संनिदधाम ह एताभिः एव नः स न संगच्छातै यो न एतद् अतिक्रामाद्य आलुलोभयिषाद् इति।

(ऐतरेय ब्राह्मण - 1/4/7)

अथर्ववेद की भाँति शतपथ ब्राह्मण में भी वरुण को पश्चिम दिशा का स्वामी कहा गया है। परवर्ती साहित्य में सर्वत्र वरुण पश्चिम दिशा के दिक्पाल के रूप में प्रतिष्ठित हैं।

(अथर्ववेद 3/27/3; शतपथब्राह्मण 8/6/1/7)

शतपथ ब्राह्मण में वरुण को धर्म तथा नियमों के स्वामी (धर्मपति) कहा गया है। वे सास्कारिक नियमों के धारक हैं अस्तु उन्हे 'धृतव्रत' नाम से भी अभिहित किया जाता है। उनके बनाए सभी नियम सत्य हैं तथा वे सत्य के पालक (सत्ययुज्) हैं।

(शतपथ ब्राह्मण - 5/4/6/31)

आकाश में देदीप्यमान आदित्य भी यज्ञरूप है "स यः यज्ञोऽसौ आदित्यः"

(शतपथ ब्राह्मण - 14/1/1/16)

'आदित्यः कस्माद् आदत्ते रसान् आदत्ते मासम् ज्योतिषाम् आर्दाप्तोभासेति निरुक्ते'। आदित्य (आदित्य) क्यों कहा जाता है ? क्योंकि वह रसों का आदान करता है ज्योतियो और तारागणों की द्युति (चमक) का आदान करता है अथवा अपनी कान्ति से आदीप्त होता है अथवा अदिति का पुत्र है इसलिए। सूर्य अदिति का पुत्र (1/88/11) इसी प्रकार अन्य देवताओं की भी आदित्य के नाम वाली स्तुतियॉ की जाती हैं। जैसे - मित्र, वरूण, अर्यमा, दक्ष, भग और अश की। उदाहरण के लिए मित्र और वरुण (दोनों) - अदिति के पुत्र दानु के स्वामी और दान को पति के रूप मे वर्णित हैं। (निरुक्त 2/13)

अदिति से कश्यप ऋषि के साहचर्य से 'वामन देव' का प्राकट्य हुआ। इसलिए इन्हें अदित्य की संज्ञा देना सर्वथा सार्थक है।

(विष्णु सहस्रनाम श्लोक 13 शांकरभाष्य)

समूचे ऋग्वेद में ऐसे सूक्त बहुत कम हैं कि जिनका देवता अदिति पुत्र अर्थ वाला हो इसलिए यह अर्थ निकलता है कि अन्य अर्थों वाले आदित्य सूक्तों का देवता है। 'सूर्यमादितेयम्' यह अदिति पुत्रार्थक अदित्य देवता वाला ऐसा ही सूक्त है। इसका तात्पर्य कि जिस प्रकार सूर्य का 'सूर्यमादितेयम्' इस सूक्त में 'अदित्य' के नाम से स्तुति की गयी है उसी प्रकार अन्य बहुत से सूक्तों और मन्त्रों में आदित्य के नाम से की गयी स्तुतियॉ ।

कौषीतकि ब्राह्मण में कहा गया है कि वरुण का घर जल में है अतः वरुण के लिए जल मे ही बलि देनी चाहिए। इससे यजमान वरुण को उनके घर मे ही सन्तुष्ट करता है (कौषीतकि ब्राह्मण 5/4 तथा 18/4)

शतपथ ब्राह्मण (5/3/4/12) में भी वरुण को जल का स्वामी बताया गया है। (वरुण्या एव एता आपो भवन्ति)। जल मे डूबकर होने वाली अकाल मृत्यु से बचने के लिए वरुण को जौ का चरु दिया जाता है (शतपथ ब्राह्मण - 13/3/8/1)। वरुण जिससे अप्रसन्न होते है उसकी मृत्यु जल में होती है। जल में पड़ने वाले आवर्त को वरुण का पुत्र अथवा भ्राता कहा गया है (योहवा अयमपामावर्तः.......स हैष वरुणस्य पुत्रो भ्राता वा)। जल की शपथ खाकर पाप करना वरुण के प्रति अपराध है।

(शतपथ ब्राह्मण - 12/9/24)

वरुण अपने भवन (पस्त्यासु) में बैठकर सभी कृत्यो का अवलोकन करते हैं। (1/25/10-11)

वरुण के पाशों का भी ब्राह्मणों में उल्लेख मिलता है। जिनसे वे अपराधियों को बॉधते हैं।

कौषीतकि ब्राह्मण 5/3 में एक कथा का उल्लेख मिलता है जिसमें वर्णित है कि एक बार वैश्वदेव यज्ञ के द्वारा प्रजापति ने पुत्र उत्पन्न किए। उन उत्पन्न पुत्रों ने जन्म ग्रहण करते ही वरुण के यव (जौहविष्यान्न) का भक्षण करना प्रारम्भ कर दिया। वरुण ने उस प्रजापति देव द्वारा उत्पन्न किए गए पुत्रों को अपने पाशों से बॉध लिया। वरुण के पाशों से बद्ध होने पर वे प्रजापति के पास गए और वरुणकी प्रसन्नता हेतु किसी याज्ञिक आविष्कार के आयोजन की प्रार्थना करने लगे। तब प्रजापति ने “वरुण प्रघास” इष्टि के द्वारा वरुण देव को प्रसन्न किया। तब वरुण देव ने अनुग्रह रूप मे उन प्रजापति के पुत्रों को पाशों से मुक्त किया तथा अन्य सभी संकटों एवं आपदाओं से मुक्ति हेतु आश्वस्त कर दिया। यह कथा ‘शतपथ ब्राह्मण’ में

इसी रूप मे तो प्राप्त नहीं होती किन्तु यह अवश्य वर्णित है कि प्रजापति ने "वरुणप्रघासो" से सम्पूर्ण प्रजा को वरुण के पाशों से मुक्त एवं संकटरहित किया –

"वरुण-प्रघासैर्वे प्रजापतिः प्रजा वरुणपाशात् प्रामुञ्चत्।

ता अस्यानमीवा अकिल्विषा. प्रजा. प्राजायन्त।"

(शत0ब्रा0 5/2/4/2)

इसी प्रकार क्रमशः 2/5/2/10 एव 5/2/5/16 मे वरुण के इन पाशो का उल्लेख है –

(क) वरुण ह वा अस्य प्रजा अगृह्णात्। तत्प्रत्यक्ष वरुण पाशात् प्रजा. प्रमुञ्चति।

(ख) तत् सर्वस्मादेवैत् वरुणपाशाद् सर्वस्माद् वरुण्यात् प्रजा. प्रमुञ्चति।

वरुण के पशु कौन हैं? शतपथ के अनुसार "स हि वारूणो यदश्वः" से स्पष्ट है कि वरुण के अपने पशु अश्व ही हैं। यह कथन शुक्ल यजुर्वेद की 29/58 तथा तैत्तिरीय संहिता 2/3/12 का स्मरण भी कराता है जहॉ वरुण का अश्वों से विशेष सम्बन्ध बताया गया है। शतपथ ब्राह्मण के 8/4/3/13 में पुन. वरुण देव को एक शफवाले पशु अर्थात् अश्व का स्वामी कहा गया है :-

"एकशफाः पशवः असृज्यन्त..........वरुणो अधिपतिरासीत्"।

वर्णों में असित रहित अर्थात् सित वर्ण 'श्याम' अथवा कृष्ण या काले रंग को वरुण से सम्बद्ध वर्ण कहा गया है। इनका काली वस्तुओ से विशेष सम्बन्ध स्थापित किया गया है। ऐसा

वर्णन मिलता है कि सभी काली वस्तुएँ वरुण की ही है। इसीलिए यज्ञ में वरुण के लिए काला वस्त्र दक्षिणास्वरूप ही है। पंक्ति द्रष्टव्य है :-

"कृष्णं वासो वारुणस्य। तद्धिवारुणं यत् कृष्णम्।"

यह वाक्य वरुण के रात्रि के साथ सम्बन्ध की ओर पुन एक सकेत करता है। वरूण को रात्रि का देव बताया गया है। सायंकाल से लेकर सूर्योदयपर्यन्त सविता देव या सूर्य का रात्रि के समय मे प्रकाशित होने वाला स्वरूप वरुण का ही है।

वरुण देव का मूल प्राकृतिक आधार अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण ऋग्वेद में वरुण से सम्बन्धित कोई विशेष गाथा नहीं प्राप्त होती है। ब्रास्मणों में भी इसी कारणवश अत्यल्प वर्णन ही प्राप्त होता है। सर्वत्र इसी प्रवृत्ति के दर्शन होते है। इसका निराकरण ऐतरेय ब्राह्मण कर देता है।

ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंचिका के तृतीय अध्याय मे वर्णित शुनःशेप की कथा मे वरुणदेव प्रमुख पात्र हैं सम्पूर्ण कथा उन्हीं के परितः घूमती रहती है। शुनः शेप की यह ऐतिहासिक कथा न केवल ऐतरेय ब्राह्मण मे वरन् शांखायन श्रौतसूत्र में भी प्राप्त होती है।[1] यह कथा ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 24वें सूक्त की व्याख्या मे कही गई है इसमे वरुण का स्वरूप कुछ इस प्रकार है-

[1] लाइप्त्सिष् (यू0 जर्मनी) के सस्कृत प्रोफेसर डॉ0 फ्रीडरिख बैलर ने दोनों पार्णे एतरेय एव शाखायन' की तुलना करके उसका समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है।

"इसमे वरुण का उदार, नियम पालन मे कठोर किन्तु साथ ही साथ जैसा करुणामय दयानिधान व्यक्तित्व उभरा है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।"[2]

कथा यह है कि – "इक्ष्वाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्र" वरुण से कहते हैं कि यदि नरक से उद्धार पाने के लिए उनके एक पुत्र हो जाए तो वे उसी की बलि देकर वरुण को संतुष्ट कर देंगे।[3] – पुत्र होता है किन्तु पुत्र स्नेह के कारण राजा वरुण को टालते रहते हैं और क्रमश. उन्हे दस दिन बाद, बालक के दूध के दॉत निकलने पर, अन्न के दॉत निकलने पर तथा कवच धारण करने के योग्य होने पर आने के लिए कहते हैं। जब उनके पुत्र रोहित को यह पता चलता है कि पिताजी मेरी बलि देकर यज्ञ करने वाले है तो वह धनुष लेकर वन में चला जाता है। इधर प्रतिज्ञा भड्ग करने के कारण वरुण हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग से पीड़ित कर देते हैं। यह सुनकर रोहित लौटना तो चाहता है किन्तु इन्द्र उसे बार-बार रोक देते हैं। अन्त मे वह अजीगर्त के पुत्र शुन.शेप को अपने स्थान पर बलि देने के लिए खरीद लेता है। वरुण उसकी बलि स्वीकारने हेतु तत्पर हो जाते हैं। परन्तु विश्वामित्र की प्रेरणा से यूप में बद्ध शुनःशेप वरुण की मार्मिक एवं हृदयद्रावी स्तुति करता है जिससे प्रसन्न होकर वरुण उसे छोड़ देते हैं और राजा को भी रोगमुक्त कर देते है। हरिश्चन्द्र की यह कथा पुराणो मे कुछ भिन्न रूप में मिलती है।

इस कथा में वरुण का मानव रूप अत्यन्त स्पष्ट है। यह मानवीय रूप ऐतरेय ब्राह्मण 3/3/10 तथा शतपथ ब्राह्मण 9/6/1 (सम्पूर्ण) में और अधिक स्पष्ट हो जाता है जहॉं

[2] ऋग्वेद प्रथम मण्डल, 24 सूक्त
[3] "स वरुण राजानमुपससार पुत्रो मे जायता तेन त्वा यजै ."

महर्षि भृगु को वरुण का पुत्र कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण के इस उद्धरण मे एक छोटी सी कथा है कि एक बार भृगु अपने को अपने पिता वरुण से विद्या और ज्ञान मे श्रेष्ट समझने लगे। वरुण ने उन्हें चारों दिशाओं मे घूमकर आने के लिए कहा। सभी ओर भृगु ने नरक के क्रूर दृश्य देखे। उनके लौटकर खिन्न होकर बैठ जाने पर वरुण ने उन्हें अग्निहोत्र का उपेदश दिया।

गृह्यसूत्रो में मुख्यत गृह्यकर्मों के सम्वन्ध में ही वैदिक देवों का उल्लेख होने से उनका वास्तविक रूप छिप गया है। किन्तु इतने से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि वरुण के उत्कर्ष का उत्तरोत्तर ह्रास होता ही गया है और गृह्यसूत्रों में उनकी वह स्थिति न रही जो ब्राह्मण ग्रन्थों में थी। वरुण की प्राचीन विशेषताओं में से बहुत कम का सूत्रग्रन्थो में उल्लेख आया है। ऋग्वेद में वरुण को परमज्ञानी अथवा सर्वज्ञ कहा गया है। इसी आधार पर खादिरगृह्यसूत्र 2/2/35 में जातकर्म संस्कार के अवसर पर बालक की मेधा तथा बुद्धि की वृद्धि के लिए मित्रावरुण की ऋचा पढकर घृत चटाने का विधान है। परवर्ती साहित्य में 'प्रचेता' (ज्ञानी) विशेषण वरुण की सामान्य संज्ञा ही बन गया है। पुंसवन संस्कार के अवसर पर भी न्यग्रोध शाखा को वृक्ष से तोड़ते समय वरुण का आह्वान किया जाता है।

(यद्यपि वारुणी-वरुणाय त्वा राज्ञे परिक्रीणामि-गोभिल 2/6/8) और 4/7/14 में कहा गया है कि न्यग्रोध वरुण का वृक्ष है, अतः नया घर बनवाने वाले व्यक्ति को ध्यान रखना चाहिए कि उसके घर के पश्चिम की ओर वह वृक्ष न रहे, नहीं तो शस्त्रपीडा का भय बना रहता है। .- (न्यग्रोधाच्छस्त्रसंपीडा. . .न्यग्रोधो वारुणो वृक्ष.)

गृह प्रवेश के समय भी वरुण की स्तुति की जाती है। सम्भवत ऋग्वेद मे उल्लिखित वरुण के विशाल प्रासाद ने बाद मे वरुण की गृहों से सम्वन्ध जोड दिया। ऋग्वेद में वर्णित वरुण के गृहों मे सहस्रों खम्भे हैं और न्यग्रोध वृक्ष भी वायवी जड़ो द्वारा बने अनेक खम्भों से युक्त होता है।

वरुण देव का नियमों एवं व्रतों से अब भी सम्बन्ध है। उपनयन सस्कार के अवसर पर गुरु बालक का हाथ पकड़ता हुआ कहता है कि आज से वरुण ने तुम्हारा हाथ पकड लिया है अर्थात् तुमको ब्रह्मचारी को नियम एवं अनुशासन से रहना पडेगा।

वरुण के पाश आज भी अपने पुराने रूप में ही मान्य है। समावर्तन के अवसर पर स्नातक अपनी मेखला को उतारकर कहता है कि हे वरुणदेव अब तुम मुझे अपने इस पाश से मुक्त करो। प्रभूत शक्ति सम्पन्न ऐश्वर्योपेत होने के कारण विघ्नों एव सकटो का विनाश करने के लिए वरुण का प्रायः आह्वान एव स्तवन किया जाता है। घर में किसी भी अपशकुन के होने पर (घर में कपोत घुस जाना, मधुमक्खियो का छत्ता बनाना अथवा किसी धूप में पत्तियॉ निकलने लगें आदि) वरुण की ही स्तुति इस अमंगल के विनाश के लिए की जाती है। (हिरण्य केशी 1/5/17)। विवाह के अवसर पर भी बधू की रक्षा के लिए वरुण से प्रार्थना की जाती है। हिरण्यकेशी (1/6/19)।

सूर्योपनिषद् मे उल्लिखित है कि," तुम विष्णु और महेश हो। आदित्य से देव और वेद उत्पन्न होते हैं। आदित्य मण्डल तप रहा है। यह प्रत्यक्ष चिन्मूर्ति ब्रह्म का वैभव है।"

"त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि त्वमेव प्रत्यक्ष रुद्रोऽसि। आदित्याद् देवा जायन्ते आदित्याद् वेदा जायन्ते। आदित्यो वा एष एतन्मण्डल तपति असावादित्यो ब्रह्म।"

'आदित्य ब्रह्म है'- इसकी व्याख्या छान्दोग्य उपनिषद् मे हुई है। पहले असत् ही था। वह सत् – 'कार्याभिमुख' हुआ। अड्कुरित होकर वह एक अण्ड मे परिणत हो गया। उस अण्ड के दो खण्ड हुए। रजत खण्ड पृथ्वी है और स्वर्ण खण्ड द्युलोक है फिर इससे जो उत्पन्न हुए हैं, वे आदित्य हैं। इनके उदय होते समय घोष उत्पन्न होते हैं। सम्पूर्ण प्राणी और भोग भी इन्हीं से उत्पन्न होते है। इन आदित्य ब्रह्म के उपासक को ये घोष सुन्दर सुख देते हैं।[1]

आदित्यादिक सभी का प्रकाशक परमात्मा है। उन्हीं की ज्योति से समस्त ज्योतिष्पिण्ड पुष्ट होते है और कर्म करते हैं। ब्रह्माण्ड मे ब्रह्म की यह ज्योति आदित्यमण्डल के हिरण्मय पुरुष के रूप में अवस्थित है और वह विभिन्न रूपो में सुशोभित होती है अर्थात नाना नाम रूपात्मक जगत् के रूप मे अभिव्यक्त होती है।[2]

[1] आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानम्। असदेवेदमग्र आसीत्। तत् सदासीत। तत् समभवत्। तदाण्ड निरवर्तत। सत् सवत्सरस्य मात्रामशयत। तन्निरमिद्यत। ते आण्डकपाले रजत च सुवर्ण चाभवताम्। तद् यत् रजत ॅ सेय पृथिवी। यत् सुवर्ण ॅ सा द्यौ . । अथ यत् तदजायत् सोऽसाविदत्यस्त जायमान घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त्सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा । स य एतमेव विद्वानादित्य ब्रह्मेत्युपास्यतेऽम्याशो ह यदेन ॅ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेद्वेरन्निम्रेडेरन्।
(छा0उ0 3 19 1-4)

[2] बृहद0 उप0 (4 3 32)।

गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद् कहता है कि आदित्यो मे जो ज्योति है वह गोपाल की ही शक्ति है - स होवाच त हि वै नारायणो देव. आद्या व्यक्ता द्वादशमूर्तय. सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु देवेषु सर्वेषु मनुष्येषु तिष्ठन्तीति ....आदित्येषु ज्योतिः (गो0उ0ता.उ.2/1)।

नारायणोपनिषद् भी आदित्य में परमेष्ठी ब्रह्मात्मा का निवास बताता है। (य एष आदित्ये पुरुषः स परमेष्ठी ब्रह्मात्मा) (नारा0 उप0)।

कौषीतकि ब्राह्मण मे आदित्य का प्रकाश ब्रह्म की ही दीप्ति है। (एतद् वै ब्रह्म दीप्यते यथादित्यो दृश्यते।। श्रुतियों और श्रीमद्भगवद्गीता मे ब्रह्म को ही ज्योति का मूल स्रोत और प्रकाशकों को भी प्रकाश देने वाला कहा गया है) (येन सूर्यस्तपति तेजसेद्ध.।। तमेव भान्तमनुभाति सर्व तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति + 1 मुण्डकोपनिषद् - 2/2/10; श्वेताश्वतर उप0 6/15 कठोपनिषद् 2/15; तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः ।। (मु0उ02/2/9)); ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः (गीता 13/17)। तथा यदादित्यगत तेजो जगद् भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।। (- गीता 15/12) पिण्ड और ब्रह्माण्ड की एकता होने से यह भी सिद्ध होगा है कि दोनो के पुरों में रहने वाले पुरुषों में वही एकता है मानव पुरुष का -प्राण पुरुष वही है, जो आदित्यमण्डल रूप पुर मे रहने वाला पुरुष है (यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवं वित्।। (-तै.उ प. 2/8/5), (ख) (-ऐतरेय उ. 3/11)।

आदित्य (सूर्य) भगवान् के नेत्र है। जब विराट पुरुष प्रकट हुआ तो उनके नेत्र मे सूर्य ने प्रवेश किया।[1] हिरण्यगर्भरूप पुरुष के नेत्रों से आदित्य प्रकट हुए हैं।[2] श्रुति कहती है कि आदित्य चक्षु में प्रतिष्ठित है और चक्षुरूप मे प्रतिष्ठित हैं। ऑख से ही रूपों को देखता है तो रूप किस में प्रतिष्ठित हैं? रूप हृदय मे प्रतिष्ठित है। आशय यह है कि दृश्यमान रूपो को सूर्य बनाते हैं किन्तु इन रूपो का अनुभवकर्ता हृदय है।[3]

संवत्सर के बारह मासों के बारह आदित्य देवता है जो सब कुछ ग्रहण करते-कराते चलते हैं। अतः वे आदित्य कहलाते है (कतम आदित्या इति द्वादश वै। मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीद ँ सर्वमाददाना यन्ति तस्मादादित्या इति।। (बृहदा उ. -3/9/5) संवत्सरोऽसावादित्यः।। (नारायण उप0 3/79)।

यह ब्रह्म है, आत्मा, आदित्य है। अन्य देवता इसके अंग हैं। आदित्य से सारे लोग महिमान्वित हैं, ब्रह्म से सारे वेद (मह इति।) तद् ब्रह्म। स आत्मा अंगान्यन्या देवता.।।. . . ।। मह इत्यादित्यः। आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते. . . .।।2।। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते।। (तैत्तिरीयोपनिषद् 1/5,1/3)

नारायण श्रुति का वचन है कि आदित्यमण्डल का जो ताप है, वह ऋचाओं का है। अतः वह ऋचाओं का लोक है। इन ऋचाओं मे जो पुरुष है, वह यजुष् है और वह यजुर्गण

---

[1] आदित्यश्चच्क्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्।। (ऐतरेयोपनिष्षद् 1 2 4)।

[2] .चक्षुष आदित्य . ..।। (ऐतरेयोपनिषद् 1 1 4)।

[3] . स आदित्य कस्मिन् प्रतिष्ठित इति कस्मिन्नु चक्षु प्रतिष्ठितमिति रूपेष्विति चक्षुषा हि रूपाणि पश्यति कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानीति हृदय इति होवाच हृदयेन हि रूपाणि जानाति हृदये ह्येव रूपाणि प्रतिष्ठितानि भवन्तीत्येवमेवैतत् याज्ञवल्क्य।

का लोक है। इस प्रकार आदित्यमण्डल मे जो हिरण्मय पुरुष है, वह त्रयी विद्या ही तप रही है आदित्य ही तेज, ओज, बल, यश, चक्षु, श्रोत्रम्, आत्मा, मन, मन्यु, मनु, मृत्यु, सत्य, मित्र, वायु, आकाश, प्राण और लोकपाल आदि हैं। आदित्य के अन्तर्गत भूताधिपति स्वयम्भू ब्रह्म की उपासना से सायुज्य और सार्ष्टि मुक्ति मिलती है। (आदित्यो वा एष एतन्मण्डल तपति तत्र ता ऋचस्तदृचां मण्डलं स ऋचां लोकोऽथ य एष एतस्मिन् मण्डलेऽर्चिर्दीप्यते तानि यजूंषि मण्डलं स यजुषां लोकः।) सैषा त्रय्येव विद्या तपति य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय पुरुषः।

आदित्यो वै तेज ओजो बल यशश्चक्षुः श्रोत्रे आत्मा मनो मन्युर्मनुमृत्युः सत्यो मित्रो वायुराकाशः प्राणो लोकपालः कः किं कं तत्सत्यमन्नमृतो जीवो विश्वः कतमः स्वयंभु ब्रह्मैतद्मृत एष पुरुष एष भूतानामधिपति ब्रह्मण· सायुज्य ॅ , सलोक तामाजोत्येता सामेव देवतानां सायुज्य ॅ सार्ष्टिता ॅ समान लोकतामाप्नोति य एवं वेदेत्युपनिषद्। तैत्तिरीय आरण्यक के अनुसार "कूर्मरूपी भगवान् के (नारा0303/14-1) द्वारा अपनी अञ्जलि में जल लेकर और 'ओवाहयेव' इस मंत्र से पूर्व दिशा में जल का उपधान किया गया उसी उपधानक्रम से भगवान् आदित्य का जन्म हुआ" (तैत्ति0 आर0 1/23/2-5)।

रामायण एवं महाभारत के माध्यम से हम एक नवीन देवकथात्मक संसार में प्रवेश करते हैं। गृह्यसूत्रों की सी अस्पष्टता रामायण एवं महाभारत में किसी भी देव के विषय में नहीं मिलती है। इन ग्रन्थों मे प्रत्येक का व्यक्तित्व अत्यन्त स्पष्ट तथा मानवी है।

वरुण अब त्रिलोकी के अधिपति नहीं है। अब उनके पास केवल जलों का साम्राज्य है। महा0 शल्यवर्व 47/9-10 में कहा गया है कि प्रजापति ने वरुण को जलो के आधिपत्य पर

नियुक्त किया। विष्णुपुराण भी इसकी पुष्टि करता है :- "जलाना वरुणं तथा" (ब्रह्मा राजानमकरोत्)। महाभारत के आदिपर्व 224/1-3 में वरुण को जल के वासी उसके स्वामी तथा पश्चिम दिशा के अधिपति कहा गया है। भागवत् 3/17/19 मे उनके लिए 'अपा पतिः' विशेषण आया है। जल एवं समुद्र के स्वामी होने के कारण जलस्थ मकर मत्स्यादि सभी प्राणी वरुण के अनुचर कहे गए हैं। भगवान् वरुण यादसा पति है। भागवत् 3/17/25 मे कहा गया है कि जब हिरण्याक्ष समुद्र में कूद पड़ा तो वरुण के सैनिक, जलचर जीव भय से इधर-उधर भाग गए-

"तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका. यादोगणा सन्निधय. ससाध्वसाः।

अह्यमाना अपि तस्य वर्चसा प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुव.।।"

भगवान् वरुण का राज्य एव उनकी राजधानी का वर्णन हमे भागवत मे प्राप्त होता है। उनकी राजधानी का नाम विभावरी है तथा यह समुद्र के मध्य मे स्थित है।

"मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरीम् आसेदिवान् तात् पुरीं प्रचेतसः"।

भागवत् 3/17/26

वरुण के दिव्य प्रासाद श्वेतमेघ के समान आभा वाले है और कैलाश पर्वत के सदृश अच्छ्रित तथा भासमान हैं :-

" ततः पाण्डुरमेघाभ कैलास मिवभास्वरम्।

वरुणस्यालयं दिव्य अपश्यद् राक्षसाधिप.।।"

न तो यह गृह अथर्ववेद की भाति हिरण्यमय है और न ही ऋग्वेद मे वर्णित भवन की भांति सहस्रस्थूणायुक्त।

वरुण की पत्नी एवं पुत्रों का भी उल्लेख मिलता है। रामायण उ0 काण्ड 25वें सर्ग मे वरुण की अनुपस्थिति में उनके कई पुत्रो द्वारा अपनी नगरी से निकलकर राक्षसराज रावण से युद्ध करने का उल्लेख है। महाभारत में वरुण की 2 पत्नियों का उल्लेख है :- देवी तथा गौरी (जिसके बल नामक एक पुत्र तथा सुरा नामक एक कन्या है) (महाभारत के उद्योग पर्व 117/9 में वर्णित)। उनके मन्त्री का नाम प्रभास है।

भागवत् 3/17/28 में वरुण को असुर लोक (पाताल) का पालक भी कहा गया है। यह उनके वैदिक विशेषण असुर का प्रभाव परिलक्षित होता है वे लोकपाल हैं तथा उनकी कीर्ति दूर-दूर तक व्याप्त है। इसका वर्णन इससे भी पुष्ट होता है कि उन्होंने युद्ध मे अनेक वीरों के छक्के छुड़ाकर, देवों तथा दानवों को परास्तकर प्राचीनकाल में राजसूय यज्ञ किया था।

ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित यह वैशिष्ट्यक्षीण रूप में आज भी वरुण से सम्बद्ध है। ऋग्वेद मे यह एक शक्तिशाली देव थे किन्तु बाद में इनमे एक सामान्य असुर से लड़ने की भी सामर्थ्य न थी। विष्णुपुराण 5/29/10 में राजा वरुण के एक दिव्य जलवर्षी राजछत्र का उल्लेख है जिसे नरकासुर छीन ले गया था।

"छत्रं यत् सलिलस्रावि तज्जहार प्रचेतसः"

महाभारत के शल्य पर्व 49/11,12 में कहा गया गया है कि वरुण अत्यधिक यज्ञ किया करते हैं। सरस्वती नदी के किनारे यमुना तीर्थ में उन्होंने एक विशाल राजसूय यज्ञ किया था।

राजसूय यज्ञ के माध्यम से ही उन्होने लोकपालकत्व प्राप्त किया तथा अत्यन्त पराक्रमी हो गए। वनपर्व के 34 वे अध्याय मे एक विचित्र कथा आती है। इसके अनुसार बन्दी नामक वरुण का पुत्र वरुण के द्वारा निरन्तर किए जाने वाले यज्ञों मे भाग लेने के लिए पृथ्वी के प्रकाण्ड पण्डितो को शास्त्रार्थ मे हराकर नदी मे डुबवा देता था जिससे वे वरुण के पास पहुँच जाते थे। भागवत 4/16/10 तथा 4/22/59 मे कहा गया है कि वरुण का शरीर कोश तथा राज्य अत्यन्त सुरक्षित है और पृथु के राज्य की स्थिरता की वरुण के राज्य से तुलना की गई है। रत्नाकर के स्वामी होने के कारण वरुण का रत्नादिको के स्वामी माना जाना स्वाभाविक है। भागवत 2/3/7 में कहा गया है कि धन सम्पत्ति (कोष) की इच्छा करने वाले व्यक्ति को वरुण की उपासना करनी चाहिए .-

"कोषकामः प्रचेतसम् यजेत्।"

महाभारत काल में भी वरुण के पाशों का उल्लेख प्राप्त होता है। अब वे एक सामान्य अस्त्र बन गए हैं। खाण्डवदाह के अवसर पर वरुण अपने पाश तथा अशनि लेकर अर्जुन से युद्ध करने आते है। बाद मे इन्होंने अपना पाश नामक अस्त्र अर्जुन को दे दिया। भागवत् में ही उल्लिखित है कि भगवान् विष्णु ने वरुण के पाशों से बलि को बाँधा था (वरुण पाशैश्च सम्प्रति मुक्तः)।

वैदिक काल की भाँति वरुण जब नैतिक तथा धार्मिक अपराधो से रुष्ट नहीं होते। किन्तु जल से सम्बधित कई अपराध होने पर वरुण के अनुचर उसे पकडकर अपने अधिपति के (वरुण के) पास ले जाते है।

वरुण के शारीरिक आकार-प्रकार तथा वेशभूषा का केवल मत्स्यपुराण 173/12-15 में उल्लेख मिलता है तारकामय सङ्ग्राम के अवसर पर असुरो से युद्ध करते हुए वरुण का वर्णन इस प्रकार मिलता है कि :- वे चारों ओर समुद्रों से युक्त थे, उनका शरीर जलमय था। उनके अश्वों का वर्ण चन्द्रमा की किरणो के समान श्वेत था और वे वायु के समान वेग वाले तथा जलाकार थे।" वरुण का शरीर मरकत मणि के सदृश श्याम था, वे स्वर्ण के आभूषण (हरिभार) तथा पीताम्बर पहने हुए थे: उनके साथ अनेक भीषण सर्प भी थे। वे शख तथा मोती आदि से युक्त बाजूबन्द धारण किए हुए थे एवं उद्वेलित एव क्षुब्ध समुद्र के समान भीषण थे :-

"चतुर्भिः सागरैर्युक्तो लेलिहानश्चपन्नगैः ।

शंखमुक्तांगदधरो विभ्रद् तोयमय वपुः।।

कालपाशान् समाविध्यन् हयैः शशिकरोपमै.।

वाय्वीरितैर्जलाकारैः कुर्वन् लीला सहस्रशः।।

पाण्डुरोद्धूतवसनः प्रचलन् रुचिराङ्गदः।

मणिश्यामोत्तमवपुः हरिभारार्पितो वरः।।

वरुण पाशधृङ् मध्ये देवानीकस्य तस्थिवान्।

युद्धवेलामभिलषन् भिन्नवेल इवार्णवः।।"

(मत्स्यपुराण 173/12-15)

इससे स्पष्ट है कि वरुण का जल से सम्बन्ध बहुत स्पष्ट है उनका शरीर ही जलमय है। समुद्र मानवाकार रूप में उनके परिचर है। वे भुजाओं में शख तथा मोती धारण किए हुए है। उनके अश्व भी जलाकार ही है।

वैदिक काल में नैतिक नियमों के सर्वोत्कृष्ट परिपालक के रूप मे प्रतिष्ठित एव अनैतिक कर्म करने वाले व्यक्तियो को दण्डित करने वाले वरुण के स्वरूप में ही पौराणिक काल में कुछ अनैतिक तत्त्व पाए जाने लगे। महाभारत अनु0 154 वें अध्याय मे एक कथा आती है कि एक बार वरुण ने उतथ्य ऋषि की भार्या भद्रा पर आसक्त होकर उसका हरण कर लिया था। (श्लोक-12) ऋषि के बार-बार कहने पर भी जब वरुण देव ने उनकी पत्नी को नहीं लौटाया तब महर्षि उतथ्य ने क्रुद्ध होकर उनके निवास स्थान समुद्र का सारा जल पी डाला। (154/18)।

भगवान् वरुण आदि बाद मे बहुत ही क्षीण दशाओं वाले हो गए। महाभारत काल तक आते-आते वे निस्तेजक एवं शक्तिहीन हो गए। इस समय सभी देवों की महत्ता कम हो जाने से कृष्ण की महत्ता इतनी बढ़ गई कि वरुण जैसे शक्तियुक्त दिगपाल भी कृष्ण को अपने निवास स्थान पर पाकर धन्य हो उठते हैं। कृष्ण के चरणस्पर्श करके वरुण भी सौभाग्यशील बन जाते हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण में प्रदत्त हरिश्चन्द्र और शुन. शेप की कथा कुछ अधिक भेद के साथ ब्रह्मपुराण (अध्याय 104) तथा श्रीमद्भागवत के नवम् स्कन्ध के सातवे अध्याय के श्लोक 7-23 में प्राप्त होती है। उत्तरवर्ती पुराणकारो ने राजसूय यज्ञ के कर्ता, पराक्रमी राजा,

हरिश्चन्द्र की यह असत्यवादिता अभीष्ट नहीं हुई। इसलिए उन्होंने इस कथा से उत्तरार्ध का निर्माण किया जिसमें हरिश्चन्द्र को एक अत्यन्त सत्यवादी, दानी तथा धर्मपालक सिद्ध किया गया है। आज हरिश्चन्द्र नाम के साथ सत्य का जो अविच्छेद्य सम्बन्ध है वह इसी कथा के कारण है। देवी भागवत के सप्तम स्कन्ध के 14 से लेकर 27 तक पूरे अध्यायों (735 श्लोको) में इस कथा का निगरण किया गया हैं कथा का पूर्वार्ध ठीक वही है जो ऐतरेय ब्राह्मण का है। वरुण के आशीर्वाद से रोग मुक्त होकर हरिश्चन्द्र अपने गुरु वसिष्ठ के दिशा निर्देशन पर राजसूय यज्ञ करते हैं और उन्हें अतुल धनसम्पत्ति दक्षिणा के रूप मे प्रदान करते हैं। वसिष्ठ विश्वामित्र से हरिश्चन्द्र की प्रशसा करते हुए कहते है।

हरिश्चन्द्र समो राजा न भूतो न भविष्यति।

सत्यवादी तथा दाता शूर. परमधार्मिक.।।

(देवी भागवत - 7,17,53)

विश्वामित्र को सहसा वसिष्ठ की बात पर विश्वास नहीं होता। वे विचार करते हैं कि जो राजा पुत्र स्नेह के कारण लगातार झूठ बोलकर वरुण को इतने दिनों तक टाल सकता है वह भला इतना सत्यवादी कैसे हो सकता है उनके मन में हरिश्चन्द्र के प्रति अप्रसन्नता का भाव भी है कि जिस शुनः शेप को पुरुषमेध यज्ञ के समय मैने छोड़ने हेतु कहा था और उसनें मेरी बात टाल दी थी-भला कैसे इतने सत्यवादी हो सकते हैं- 16/38-55, 16/38-58। अतः विश्वामित्र हरिश्चन्द्र की परीक्षा लेने का निश्चय करते है। छल से वे हरिश्चन्द्र का सारा राज्य ले लेते हैं। दान की पूरी दक्षिणा चुकाने के लिए हरिश्चन्द्र को अपनी पत्नी शैव्या और पुत्र

रोहित तथा स्वय अपने को बेचकर चाण्डाल की दासता करनी पडती है सर्प के काट लेने से रोहित की मृत्यु हो जाती है शैव्या उसे जलाने के लिए श्मशान पर लाती है, वहॉ लोग शैव्या को राक्षसी समझ लेते हैं और उसे मार डालने के लिए हरिश्चन्द्र से प्रार्थना करते हैं। पुत्र और पत्नी को पहचान लेने पर उनका दु:ख और भी बढ जाता है और वे दोनो (हरिश्चन्द्र और शैव्या) अपने पुत्र रोहित की चिता पर स्वय भस्म होने के लिए उद्यत होते है कि सहसा दृश्य बदल जाता है हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा पर प्रसन्न होकर इन्द्रादि देवता प्रकट होते है। हरिश्चन्द्र की दृढ़ता पर प्रसन्न और प्रभावित होते है और फिर हरिश्चन्द्र अयोध्या वासियो के साथ स्वर्गगमन करते है।

इस कथा का उत्तरार्ध वस्तुत हृदयद्रावक और मर्मस्पर्शी है। ऐतरेय ब्राह्मण के हरिश्चन्द्र और पौराणिक हरिश्चन्द्र मे आकाश-पाताल का अन्तर है। वरुण का सम्बन्ध ही इस कथा से लुप्त कर दिया गया है। हरिश्चन्द्र की इस कथा का अपनी प्रतिभा और उद्भावन प्रवणता से जिस अज्ञात कवि मस्तिष्क द्वारा विवेचन प्रस्तुत किया गया है उसके लिए वह सचमुच प्रशंसनीय है। पौराणिक वाङ्मय की यह एक अद्भुत कृति है। परवर्ती पुराणो से हरिश्चन्द्र की पहली कथा इस दूसरी कथा के आगे विलुप्त हो गयी है। मार्कण्डेय पुराण के आठवे अध्याय मे 270 श्लोकों में इसी दूसरी कथा का मार्मिक चित्रण प्राप्त होता है।[1]

हिन्दी में भी इस कथा को आधार बनाकर अनेक नाटक लिखे गये हैं जिनके अभिनय से पाषाण हृदय व्यक्ति भी एक बार अश्रुप्लावित हो जाता है।

---

[1] इस कथा की विस्तृत विवेचना के लिए देखिए - वासुदेव शरण अग्रवाल मार्कण्डेय पुराण एक सास्कृतिक अध्ययन पृ0(55 5)।

इन्द्रोधाताथ पर्जन्य पूषास्त्वष्टाऽर्यमाभग ।

विवस्वान् विष्णुरंशुश्च वरुणो मित्र एव च।।

वरुण इन्द्र के बाद मेरी दृष्टि मे दृश्य जगत् के सर्वोच्च और नैतिक क्षेत्र में भी प्रमुख देवता है । वे एकमात्र ऐसे देवता है जिन्हे स्थिर सहचर मित्र के नाम से सम्बोधित कर उनकी अर्चना की जाती है। वरुण को कही .वरुणा' और कहीं .मित्रावरुणा' की सज्ञा दी गयी हैं ऋग्वेद संहिता के (VII-61-1-a) मे मित्रावरुणा सूक्त मे इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता हैं इनके क्रियाकलाप एक दूसरे से मिले जुले हैं। परिणामतः वस्तुत. जो वरुण का कार्य है उसे कभी-कभी मित्र अथवा मित्रावरूणा का कार्य बताया गया है। वैदिक वाड्मय में वरुण के विभिन्न क्रियाकलापों का उल्लेख प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध है। वैदिक विद्वान वरुण के स्वीकार किये जाने योग्य कार्यों अथवा उनके मौलिक आचरण पर कहीं तो सहमत दीख पड़ते हैं और कहीं उन्हें उन पर विप्रतिपत्ति होती है अर्थात् वरुण के किसी कार्य पर कुछ विद्वान तो सहमति व्यक्त करते हैं और कहीं कुछ विद्वान अपनी प्रबल असहमति दिखाते हैं। वैदिक वाड्मय के अधिकारी विद्वानों को अपनी वरुण सम्बन्धिनी विचारधारा अधोलिखित रूप मे प्रस्तुत की है -

(अ) वरुण द्युलोक के देवता।

(ब) वरुण अवेस्ता के अहुर मज्दा के समतुल्य बताये गये हैं।

(स) वरुण सर्वशक्तिमान देवता अथवा राजा के तुल्य हैं। जो सूक्ष्मद्रष्टा रूप में प्रजाजनो का पर्यवेक्षण करते है।

(द) इन्हें चन्द्र देवता के रूप में चित्रित किया गया है।

(य) इन्हे (वरुण को) जल अथवा समुद्र के देवता के रूप मे बताया गया है।

(अ) आधुनिक विद्वानों ने वरुण को द्युलोक देवता अथवा अन्तरिक्ष देवता के रूप मे चित्रित किया है लगता है कि इसके पीछे ग्रीक देवता O'urano's की समतुल्यता एकमात्र आधार है मैक्डॉनेल ने कहा था "अनादिकाल से वरुण की ग्रीकदेवता O'urano's के समतुल्य बताया गया लगता है। उच्चारण में ध्वनि सम्बन्धी कठिनाई के चलते वरुण को ही O'urano's कहा जाता था।

वैदिक माइथालॉजी में मैक्डॉनेल महोदय ने वर्णन किया है कि आधुनिक विद्वान तुलनात्मक भाषा विज्ञान की दृष्टि से इस वरुण और O'urano's की समतुल्यता की विचारधारा को निरस्त करने मे समर्थ नहीं हुऐ हैं ब्लूमफील्ड महोदय ने तो (वरुण और O'uıranos) को सदैव बल देकर एक रूप बताया है। ग्रेसवोल्ड महोदय ने भी कुछ हिचक के साथ वरुण और O'urano's को एक समान मान ही लिया। वाल्टर प्रेलविज महोदय ने तो ग्रीक शब्द 'Ver' का अर्थ आवृत होना अथवा घिरा होना माना। वह स्वीकार करते है कि 'Ver' शब्द वरुण से जुड़ा हुआ है जो उनकी सम्मति में सारे संसार में अभिव्याप्त है। पं0 क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय महोदय ने वरुण और O'urano's को एकरूप मानने में कुछ शकाये व्यक्त की हैं। उनका कहना है कि संस्कृत शब्द 'वरुण' और ग्रीक शव्द O'urano's दोनो मे स्पष्ट रूप से अन्तर है।

(1) संस्कृत का दूसरा स्वर 'U' है जहॉ ग्रीक का 'a' है संस्कृत का 'U' इण्डो यूरोपियन 'u' के तुल्य है, उदाहरण स्वरूप संस्कृत का युगम (Yugam) योक (Yoke) जो

ग्रीक के जुगों (Zugon) (Latin ıugum) के तुल्य है, सस्कृत का सुताज (Sruta's) जो ग्रीक मे (Kluto's) लुटास के रूप में सुना जाता है, संस्कृत मे 'nu' 'now' और 'c' इण्डो यूरोपियन u सदैव u ही रहता है ग्रीक मे (orou) a कभी नहीं होता।

(2) संस्कृत शब्द मे प्रथम अक्षर या वर्ण पर अधिक बल डाला जाता है जब कि ग्रीक शब्द मे तृतीय अथवा अन्तिम वर्ण पर अधिक बल डाला जाता है। सभी संस्कृत और ग्रीक शब्द जो इण्डो यूरोपियन भाषा को जीवन्त बनाए हुए है, मे उपरिकथित वर्णों पर ही विशेष बल दिया जाता है। उदाहरणस्वरूप सस्कृत मे प्रामाणिक शब्द डोमोह (domoh) और (domos) होता है जब कि ग्रीक भाषा में यति के लिये विशेष व्यवस्था है। इसकी किसी स्वर मे उपस्थिति दृष्टिगत नहीं होता किन्तु यहॉ यह नियम स्वीकार्य नहीं है क्यों कि प्रथम स्वर O'urano's केवल अन्त से तीसरा है। इसके अतिरिक्त दो और कमियॉ है -

(1) वैदिक साहित्य में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके आधार पर वरुण (Varuna) को आकाश (Sky) अथवा द्युलोक का बताया जाय। यह परिकल्पना कि वरुण (Varuna) द्युलोक के देवता हैं पूर्णतः इसी तथ्य पर आधारित है - Varuna= O'urano's जिसे हमने ऊपर आधारहीन अथवा अटिकाऊ बताया है। आकाश के लिए वैदिक शब्द (dya'us', div) ये दोनों (div) या चमकने का बोध कराते हैं।

(ii) यहॉ इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है जिसे देखकर हम कह सकें कि ग्रीक साहित्य मे हम बड़े सावधानी से (O'urano's) पूज्य थे अथवा देवता के रूप में पूजे जाते थे। कहने का तात्पर्य है कि दृश्यमान आकाश में चमकने के कारण वरुण द्युलोक के देवता के रूप

मे चित्रित किये गये उसके ऊपर पीठासीन के रूप मे नहीं किन्तु ग्रीक साहित्य मे इनकी समतुल्यता मे (Zeus) ही रखे गये।

वरुण शब्द निश्चय तौर पर कैसे व्युत्पन्न हुआ अथवा वरुण शब्द की व्युत्पत्ति निश्चित तौर पर कैसे हुई सब पर आवरण रूप से घिरे हुए होने के कारण 'वृ' धातु से व्युत्पन्न हुआ यह वरुण शब्द। वैदिक भाषा अथवा लौकिक संस्कृत में समस्त शब्द समूह की सरचना शब्द के अन्त में उन प्रत्यय जोडकर ही की जाती है - अर्जुना (a'rjuna), करुणा (k'aruna), सेतुना (cetu'na), तरुना (ta'runa), डरुना(da'runa), घरुना(dharu'na), नरुना (naruna), पिसुना (Pisuna), मिथुना (mithuna), यतुना (Yatuna), वयुना (vayuna), सलुना (saluna), यमुना (yamuna) और भ्रूना(bhruna) शब्द। वरुणा शब्द के अतिरिक्त अन्य सभी शब्द तार्किक विचार के विषय हैं। इसीलिये हमे पद विज्ञान पर वरुण शब्द पर वार्ता हेतु भारत के बाहर जाने की आवश्यकता नहीं है परिणामतः वरुण द्युलोकवासी देवता हैं। शब्द व्युत्पत्ति विज्ञान मे प्रदत्त किञ्चित युक्तियों के आधार पर इस बात को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।

(ब) इस त्रुटिपूर्ण साम्य के साथ-साथ वरुण और जरथुस्त्र धर्म के अहुर मज्दा की समतुल्यता स्वतः ही सिद्ध हो जाती है वैदिक धर्म के अति सजग एवं सटीक लेखक आचार्य मैक्डॉनेल ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक वैदिक माइथोलॉजी के पृष्ठ 28 पर कहा है कि वरुण इण्डोयूरानी युग के देवता हैं क्योकि नाम की एकता न होने पर भी उनमें तथा अवेस्ता के अहुरमज्दा में पर्याप्त साम्य है। यहाँ रूडोल्फ रॉथ तथा ह्विटनी इन दोनो का अनुसरण इन्होंने किया है। उन्होंने स्वयं

अपने बाद के एक लेख में इस तथ्य का उल्लेख किया है किन्तु विण्डिशमैन ने अहुरमज्दा को शुद्ध ईरानी और स्पीगेल ने अहुरमज्दा और वरुण में किसी भी समरूपता का दर्शन नहीं होता।

वरुण और अहुरमज्दा को समतुल्य कहने के दो प्रमुख आधार दीख पडते है -

(1) वरुण को ऋग्वेद संहिता मे असुर कहा गया है। असुर तथा अहुरमज्दा का अहुर एक जैसा है।

(2) दोनो 'rta or asa' से सम्बद्ध है लेकिन वरुण के अतिरिक्त अन्य देवो को भी असुर कहा गया है।

ध्यातव्य है कि अहुर मज्दा की रगाथाओ मे अधिकाशत· मज्दा अहुर अथवा केवल मज्दा कहा गया है। किन्तु यह नाम जरथुस्त्र के धर्मप्रचार के बहुत पहले सातवीं शताब्दी ईसवी पूर्व के असीरिया के शासक असुरबैनी पाल के पुस्तकालय में उपलब्ध एक पट्टी पर उपलब्ध है। "Assara Mazas" स्पष्टतः अहुर मज्दा का मूलरूप है। असीरिया के पुस्तकालय में पत्र पर लिखित उक्त सातवीं शताब्दी ई0पूर्व का एक अभिलेख प्राप्त होता है जो जरथुस्त्र के आदेशों के बहुत पूर्व की घटना है। सीरिया के बारखोनी के अनुसार जरथुस्त्र का जन्म ई0 पूर्व0 628 वर्ष सात माह उल्लिखित है और यह पूर्णरूप से सत्य प्रतीत होता है। जरथुस्त्र महोदय ने 33 वर्ष की आयु में अपना उपदेश प्रारम्भ किया।

वरुण और अहुरमज्दा क्रमशः ऋत् और अष् से सम्बद्ध होने के कारण वास्तव में महान नैतिक देव हैं। परन्तु केवल इतने से ही हम उन्हें समान नहीं मान सकते है। कतिपय

सक्षम ईरानी विद्वानों को वरुण और अहुरमज्दा मे किसी प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं है। अहुरमज्दा निश्चित और जरथुस्त्र के पूर्व के है किन्तु जरथुस्त्र ने अहुरमज्दा यह कहते हुए विशेष तौर पर एक विशेष सम्मान का स्थान दिया। वरुण के ऋत और अष् मे समानता है किन्तु इससे हमे यह अधिकार नहीं प्राप्त हो जाता कि हम दोनो देवताओ को एक समान बताना प्रारम्भ कर दें। अग्नि और अन्य देवता rta से सम्बन्धित है। कुछ लोग वेद मे मित्र और वरुण के सम्बन्ध के आधार पर अहुरमज्दा को भी मित्र के समान मानते हैं। किन्तु दोनो देवों की इस समानता का आधार यंगर अवेस्ता के कतिपय अनुच्छेद ही है। जरथुस्त्र ने मिथ्र (मित्र) की उपासना से मुँह मोड लिया था क्योंकि मिथ्र की उपासना में पशुबलि होती थी। सयोग की बात है कि अवान्तर कालीन जरथुस्त्र धर्म में मिथ्र का प्रवेश हुआ और उनके सम्मान में मिहिर यशत नाम का एक लम्बा यशत (सूक्त) समर्पित है। वरुण सुनिश्चित रूप से एक शक्तिशाली राजा अथवा सम्राट अथवा स्वराट् के रूप में और अथर्ववेद में V/28 मे 'स्वराजा' के रूप मे वर्णित है। किन्तु इन्द्र, मित्र, वरुण, मित्रावरुण तथा अर्यमा आदि देवो को भी इन उपाधियों से विभूषित किया गया है। ऋग्वेद संहिता अथर्ववेद तथा माध्यन्दिन संहिता मे इसके अनेक प्रमाण उद्धृत है। वरुण को तो सतत् द्रष्टा के रूप में समादरणीय माना जाता है किन्तु वण को तो सतत द्रष्टा के रूप में समादरणीय माना जाता है किन्तु वरुण, इन्द्र अथवा मित्रावरुण- ये तीनो भाई और बुराई के कार्यों मे संलग्न व्यक्तियों को देखते हैं। वरुण के दूतो का प्राय. वर्णन हुआ है किन्तु ये दूत मानव के पुण्य एवं पाप कर्मों के पर्यवेक्षक हैं न कि राजनीतिक दैत्य में लीन व्यक्ति।

अब हम हर्मन ओल्डेनवर्ग (H. Oldenberg) के चन्द्र सिद्धान्त पर आते है जिनके अनुसार आदित्यगण तारे (Planets) है। वरुण आदित्यों में से एक है। वैदिक वाड्मय में वरुण तथा रात्रि आदित्यों में से एक है। वैदिक वाड्मय में वरुण तथा रात्रि के सम्बन्ध के सकेत है। वरुण के चिर सखा मित्र एक सौरदेवता है। अतएव अपने ईरानी प्रतिरूप मित्र के समान वरुण को भी चन्द्रमा समझ लिया गया साथ ही वरुण, मित्र और आदित्यगण से सम्बद्ध कुछ अन्य देवों की संख्या 7 स्वीकार की गयी। अपने छः साथियों (अमेशा स्पेन्ताज) सप्तसख्या का होने के कारण आदित्यों के साथ तुलित किया गया। ओल्डेनवर्ग का विश्वास था कि अहुर मज्दा और आदित्यगण अपने छः अमर्त्य साथियो के साथ सात ग्रह थे लेकिन यह असम्भव है। वह अविभाज्य रूप से सम्बन्धित थे। ऋग्वेद संहिता में तो 5.62.8, 5.63.1, 5.68.5 में कहा गया है कि वरुण और मित्र एक रथ पर सवार होते हैं और स्वर्ग में भ्रमण करते हैं। इसलिये इन्हें जैसे - सूर्य और चन्द्रमा को अलग किया जाता है वैसे अलग नहीं किया जा सकता। इस बात को भी इंगित किया जा सकता है कि मित्र और वरुण के एक साथ आरूढ़ होकर भ्रमण करने से तो उन्हें द्युलोकस्थानीय सिद्ध नहीं किया जा सकता। वस्तुतः मूलरूप से आदित्यो की संख्या छ. (6) बतायी गयी है। वे सात कदापि नहीं थे। (ऋग्वेद संहिता (2.27-1अ)। इनके छः (6) नाम उल्लेख्य है - मित्र, अर्यमा, भग, वरुण , दक्ष और अंश। ऋग्वेद सहिता (9.114.3) में बिना नामोल्लेख किये आदित्यो की संख्या 7(सात) बतायी गयी है। सात दिशाओं में विभिन्न सूर्य सात पुरोहितो के साथ चलते दिखाए गये हैं किन्तु संहिताओं मे ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं है जिसके आधार पर हम भग, दक्ष और अंश को ग्रह सिद्ध कर सकें। भग को

सामान्यतया एक देवता के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके स्लाविक प्रतिरूप मे दक्ष म तात्पर्य चतुर और अभ्यस्त से है। ऋग्वेद सहिता के (6.50.2) मे दक्ष को आदित्यो का पिता कहा गया है। और (7.66.21) में और (8.25.5) में मित्र और वरुण भी इसी रूप में वर्णित है। इससे प्रकट है कि दक्ष संसार के स्रष्टा प्रजापति है। वस्तुत. शतपथ ब्राह्मण निश्चित तौर पर दक्ष को प्रजापति बताता है।[1] ऋग्वेद सहिता के विभिन्न स्थलों पर भी दर्शाया गया है कि अर्यमा, मित्र और वरुण के साथ रहते हैं। यदि पदविज्ञान से इन नामो की मिलान की जाय तो सन्देश जाता है कि अर्यमा, वरुण और मित्र- इन तीनों के तात्पर्य कुलीनता, महत्त्व अथवा महिमा से है। अवेस्ता के (yaz'arta ariyaman) यजत अर्यमन को इनके समरूप बताया गया है, अंश का तात्पर्य स्पष्ट नहीं है। वैदिक साहित्य के कुछ निश्चित स्थलो पर सूर्य, सवितृ और दूसरे विवस्वत् आदि कहे गये है। ये सभी सौर देवता है। अवेस्ता का अमेशा स्पेन्ताज वोहु मनह (Vahu Manah - good thought) उत्तम विचारधाराओ से सर्वथा ओत प्रोत बताया गया है। असा वहिस्त (Asa Vahista) क्षत्र वहिस्त (Best Rightousness) Ksaora variya क्षत्र वैरिय (Wished for Dominior) स्पेन्टा अरामैटी (Spenta Aramaiti) (Holy Devotion), हौर बतात (Good health) और अमेरतात (Immortality) ये निश्चित रूप से आदर्श गुण है जिन्हे किसी भी देश में ग्रह नहीं कहा जा सकता है।

---

[1] शत0 2 44. 1.2 ।

अतएव ओल्डेनवर्ग का आदित्यो को ग्रह मानने वाला सिद्धान्त पूर्णतया अर्स्वीकार्य है। अब हम वरुण को प्रारम्भ से ही समुद्र देवता अथवा जल देवता माने जाने के विचार की विवेचना करेंगे। वैदिक साहित्य मे वरुण के समुद्र अथवा जल से सम्बद्ध होने के तथ्य को नकारा नहीं जा सकता किन्तु इस बात को वरुण के लक्षण से आवश्यक रूप से सम्वद्ध नहीं किया जा सकता। उत्तरवर्ती काल मे वरुण जल अथवा समुद्र से सम्वद्ध होने के तथ्य पर हम बाद में विचार करेंगे।

वरुण के मौलिक स्वभाव को निर्धारित करते समय हमें अधोलिखित विन्दुओं पर ध्यान देना होगा।

(1) वरुण इन्द्र से भिन्न है।

(2) वरुण और मित्र साथ-साथ रहते हैं।

(3) मित्र और वरुण आकाश में कार्यरत हैं।

(4) वरुण और मित्र (rta rightousness) अथवा Vrata (law) से सम्बद्ध हैं।

(5) वरुण अथवा मित्र और वरुण मानवीय व्यवहार पर निगरानी रखते हैं। जिसके लिए वे अपने जासूस नियुक्त करते है।

(6) वरुण बुरा कार्य करने वाले को दण्डित करता है और पश्चाताप करने वालों के प्रति दयालुता प्रदर्शित करता है।

(7) वरुण कर्मकाण्ड में प्रायश्चित से सम्बद्ध है।

(8) rta का तात्पर्य ब्रह्माण्ड नियमन से है। वरुण अथवा मित्र ओर वरुण ब्रह्माण्ड को नियन्त्रित करने का कार्य करते हैं जिसमें जल के बहाव पर नियन्त्रण करना भी आता है।

(9) मित्र दिन से सम्बन्धित है और वरुण रात्रि से।

(10) वरुण को साहित्य मे पश्चिम दिशा से सम्बद्ध कर दिया गया है।

ऋग्वेद संहिता में इन्द्र और वरुण के सात सूक्त हैं। अधोलिखित पुस्तकीय साक्ष्य उपरिवर्णित तथ्यों से सम्बद्ध है-

ऋग्वेद संहिता के एक (इन्द्र) सात सूक्तों के अतिरिक्त एक विश्वेदेव सूक्त (3-62-1-3) के तृच्, एक-एक वरुण, दूसरे विश्वदेव (सूक्त 7.35.1) तथा माध्यन्दिन सहिता 8.37 के एक मंत्र में इन्द्र और वरुण को साथ-साथ सम्बोधित किया गया हैं इनमें से दो पद्यों मे इन्द्र और वरुण के कार्यों का वर्णन है।

वृत्राण्यन्यो समिघेषु जिध्नते व्रतान्यन्यो अभिरक्षते सदा।

इन्द्र युद्धों में शत्रुओं का विनाश करता है और एक वरुण सर्वदा नियमो की रक्षा करता है।

कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता वृत्राण्यन्यो अप्रतीनि हन्ति।

(8.85.3 डी)

एक वरुण अच्छाई और बुराई का विवेचन कर लोगो का पालन करता है और दूसरा इन्द्र अपने शत्रुओं को इस सीमा तक प्रशमन कर देता है ताकि वे पुन कभी विरोध के लिए खडे न हो सके।

इन दोनों मत्रो से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्द्र भौतिक स्तर पर एक शक्तिशाली देवता है और वरुण नैतिक दृष्टि से एक शक्तिशाली देवता। प्रशंसा मे भिन्न-भिन्न सूक्तो और ऋचाओं में इन दोनों देवों के सम्बोधन इस तथ्य को प्रमाणित करते है। ऋग्वेद संहिता मे मित्र और वरुण की प्रशंसा में समर्पित 23 सूक्त हैं। स्पष्टतः अपने महत्त्व के कारण वे अनेक विश्वेदेवा सूक्तों के प्रारम्भ में वर्णित है। अन्य द्विदेवत्य के उद्धरणों की भांति इनके नाम देवता द्वन्द्व समास में दृष्टिगत होते हैं किन्तु इनमे एक प्रमुख वैशिष्ट्य दृष्टिगत होता है ' मित्रा' (दो मित्र) अथवा 'वरुणा' (दो वरुण), द्वित्व का बोध कराते हुए अथवा एकवचन में प्रयुक्त होने पर भी एक 'मित्रा' वरुण सूक्त में दोनों छिपे है। इस प्रसंग मे ऋग्वेद संहिता के इस मंत्र को उद्धृत किया जा सकता है।[1]

'उद्वां चक्षुर्वरूण सुप्रतीक देवयोरेति सूर्यस्ततन्वान्।
अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे समन्युर्मर्त्येष्वा चिकेत।।

हे वरुण ! तुम दोनो का सुन्दर नेत्र सूर्य अपनी किरणों को विकीर्ण करता हुआ उदित होता है सभी प्राणियों का दृष्टा सूर्य मरणधर्मा मानवों के मनोभावों को जानता है।

---

[1] उद्वा. चिकेत। (7.61.1)।

मित्र और वरुण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ये दोनो एक ही रथ पर आरूढ होते है।[1]

उक्त वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि मित्र और वरुण अपृथक्रूपेण साथ-साथ चलते रहते हैं।

वरुण अथवा वरुण और मित्र के एक साथ कर्म करते हुए एक विशिष्ट विश्वेदेव सूक्त मे आकाश में कर्म करते हुए वर्णित हैं। इस सूक्त मे 10 पद्यों मे बिना नाम लिये हुए 10 विभिन्न देवों को सन्दर्भित किया गया है। उनके नाम उनकी उपाधियों अथवा क्रियाओं के आधार पर अवबोधनीय हैं।[2]

इस सूक्त का नवॉ मन्त्र अद्योलिखित है-

"सदो द्वा चक्राते उपमा दिवि।

सम्राजा सर्पिरो सुती।।

द्वा (Two) तथा सम्राजा (Sovereign lords) पदो के आधार पर इसमें मित्र तथा वरुण का संकेत है। यह एवं अन्य सन्दर्भ इस तथ्य के प्रबल प्रमाण हैं कि वरुण को आकाशीय देव नहीं माना जा सकता।

पूर्ववर्ती प्रथम अनुच्छेद मे कहा गया है कि इन्द्र और वरुण मे अन्तर है। यह अन्तर मात्र इस तथ्य पर आधारित है कि इन्द्र को शवस् अथवा शची (शक्ति) से जोडा गया है और वरुण को ऋतु या व्रत (Law) जो वस्तुतः एक दूसरे के पर्याय हैं से जोडा गया है।

---

[1] ऋ0 सहिता (5 62 8 , 63 1 68, 5 8 101 2)।
[2] ऋ0 (1 115 5, 7 66.18, 7 87.3,829 9 और 8 29)।

केवल वरुण का ही सम्बन्ध ऋत से नहीं है। ऋग्वेद सहिता मे यह सम्मान मित्र को भी दिया गया है।[1]

"ऋतेन मित्रावरुणा वृता वृधा वृतास्पृशा।

क्रतुं बृहन्तमाशाथे।।"

हे मित्र और वरुण ! हे ऋत के जनक, है ऋत से सम्वद्ध तुम दोनो ऋत के साथ विशाल यज्ञ को समावृत करते हो। चूकि मित्र और वरुण आदित्यो से सम्वद्ध है, आदित्य सामान्यतया (rta) ऋतु से सम्बद्ध कहे गये है। ऋग्वेद संहिता में (11.27.4.24) और अन्य स्थलों पर उन्हे ऋतावानः (ऋत धारण करने वाले) तथा ऋक् सहिता (।। 27.4 और 7.66. 13) में उन्हें ऋतावृधः ऋत को प्रवर्धित करने वाले कहा गया है। किन्तु ऋत संहिता 1.77. 1,2,5 तथा ऋक् संहिता 1.1.8 एवं 1.8.7 में अग्नि को भी क्रमश. ऋतावा और ऋतस्य गोपाः ऋत की रक्षा करने वाला अथवा ऋत को सुरक्षित रखने वाला कहा गया है। इसी प्रकार सोम को भी ऋतावा एवं ऋतस्य गोपाः कहा गया है। द्यावा पृथिवी को भी ऋतावरी कहा गया है। (9.96.13,97.48,110.11)। वास्तव में एक कर्मकाण्ड सम्मत व्यवस्था है जिसमें नैतिक व्यवस्था (moral order) तथा विकास का सोपान प्रस्तुत करती है। ब्रह्माण्डीय व्यवस्था (Cosmic order) जैसे अर्थों का विकास हुआ।

विशेषतया ऋत के नैतिक व्यवस्था वाले पक्ष से सम्बद्ध होने के कारण वरुण अथवा उनके अविभाज्य साथी मित्र अथवा दोनों को ही मनुष्यों में विद्यमान नैतिक विधिविधानों और

---

[1] ऋतेन .. माशाथे। (ऋग्0 1.2 8)।

अन्तर्निहित मूल्यो की निगरानी से सम्बद्ध होना चाहिये। आदित्यगण मे सम्बद्ध मित्र और वरुण की भाँति अन्य आदित्य भी इसी प्रकार का कार्य करते हैं। इसके लिए जासूस नियुक्त किये जाते है। इनमें सूर्य भी है जिसे उनका चक्षु (eye) कहा गया है। यह स्पष्टतया दिन का निरीक्षण करता है रात्रि के लिए तारो की नियुक्ति की गयी है जिन्हे 'स्पश.' कहा गया है। ऋग्वेद संहिता (7.61.6) में सूर्य को मित्र और वरुण का चक्षु कहा गया है।

"उद्वा चक्षुर्वरुण सुप्रतीकम्" ऋग्वेद सहिता (8.101.03) में सूर्य को उनका दूत कहा गया है।

ऋक् संहिता (7.61.3;111.59.1;7.87.3,6.51.1,2, और 10.37.1) में मित्र और वरुण, मित्र तथा आदित्यों को अपने दूतों के द्वारा हमारे कार्यों का निरीक्षण करने वाला कहा गया है। वरुण की सर्वदा मानवीय नैतिक आचरणों पर अपवनी सूक्ष्म दृष्टि रखने के कारण यह सर्वथा स्वाभाविक है कि वह नैतिक मूल्यों की उपेक्षा करने वालों को अवश्य दण्डित करता है। वह उन्हें अपने पाश से बॉध लेता है। तथा उन्हे जलोदर रोग से ग्रसित कर देता है। बाद वाला दण्ड वरुण के जल के देवता होने वाले तथ्य से सम्बद्ध है।

ऐतरेय ब्राह्मण और शाडखायन श्रौत सूत्र में सदर्भित शुन शेप का आख्यान ऋग्वेद संहिता के शुनः शेप सूक्तों पर आधृत है। इस सन्दर्भ मे ऋग्वेद संहिता (1.24.30) की प्रथम एवं अन्तिम ऋचा विशेष रूप से उद्धरणीय है।

"कस्य नूनं कतमस्यामृताना मनामहे चारु देवस्य नाम।"

को नो मह्या अदितये पु नदीते पितरं च दृशेय मातर च।

किस देवता का नाम अन्य सभी अमर्त्यों मे सबसे अधिक सुन्दर है, जिसकी मै स्तुति करूँ। कौन मुझे अदिति (बन्धनाभाव) के पास ले चल सकता है, जिससे मैं अपने पिता और माता को देख सकूँ।

''उदुत्तमं वरुण पाशमस्मद् अवाधम वि मध्यम श्रथाय।

अथावयमादित्य व्रते तव अनागसो अदितये स्याम।।

हे वरुण ! कृपया मुझे उच्चतम, मध्यम और निम्नतम बन्धनो से मुक्त करो। हे आदित्य! हम तभी तुम्हारे नियम का पालन करते हुए स्वयं को अदिति के समक्ष निष्पाप सिद्ध कर सकते हैं।

शुनः शेप सूक्तो को अन्य पद्यों तथा विशेष रूप से ऋक् संहिता (1.25.12) तथा ऋक् संहिता वरुण सूक्त (7.86.3) में बन्धनों का उल्लेख आलंकारिक है। ऐतरेय ब्राह्मण और श्रौत सूक्त में वर्णित शुनः शेप का उपाख्यान में कल्पना की उड़ान परिलक्षित होती है जो उत्तरवर्ती साहित्य की एक प्रमुख विशेषता है।

यदि वरुण विधिविरुद्ध काम करने वालों को दण्डित कर सकते हैं तो पश्चातापी अथवा अपराध स्वीकार करने वालो को क्षमा भी कर सकते हैं इसके सम्बन्ध मे चातुर्मास्य याग की वरुण प्रघास दृष्टि को सन्दर्भित कर सकते हे जो वरुण के लिये ही की जाती है। इस दृष्टि में यजमान की पत्नी प्रेम सम्बन्ध से होने वाले अपराध स्वीकार करती है। इस कुकृत्य से उत्पन्न दोष के प्रायश्चित के लिए वह दक्षिणा के रूप में गरम हलवा प्रदान करती है।

वरुण अथवा मित्र और वरुण यज्ञिय त्रुटि के निमित्त से प्रायश्चित करने वालो को, वरुण और मित्र के द्वारा क्षमादान भी मिलता है।

दशरात्र सत्र में नवें दिन प्रायश्चित के लिए सामवेद सहिता के उत्तरार्चिक (5 2.1.2) के बहिष्पवमान स्तोत्र के ऋच् का प्रथम (आरम्भिक) पद्य उद्धृत किया गया है। ताण्ड्य महाब्राह्मण (15.1.3) के अनुसार इस पद्य मे वायु, मित्र और वरुण, मरुद्गण देवजन तथा द्यावापृथिवी को सोम की आहुति प्रदान की गयी है। परन्तु यह ताण्ड्य ब्राह्मण ग्रन्थ इस पद्य को केवल वरुण के लिए प्रयुक्त मानता है।

अग्निहोत्र याग में प्रातःकाल सूर्योदय के पहले अग्नि को प्रात.सवन के लिये गार्हपत्य अग्निवेदिका से आहवनीय वेदिका पर ले जाया जाता है। यह प्रक्रिया सायंकाल सायंतन सवन के लिए भी होती है। सायंतन सवन के लिए सूर्यास्त के पहले अग्नि को स्थानान्तरित करने में प्रमाद हो जाने पर एक प्रायश्चित याग करना पडता है। इस प्रायश्चित का विवरण तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.4.4.1-3) मे दिया गया है। इसके अन्त में वरुण को तण्डुल निर्मित यवागू (चरु) प्रदान करने का विधान है। इस सम्बन्ध मे अधोलिखित पद्य है :-

वरुणो वा एतस्य यज्ञं, गृह्णाति यस्याग्निम्

अनुद्धृतं सूर्योऽभिनिम्रोचति वारुणं चरुं निर्वपेत्

तेनैव यज्ञं निष्क्रीणीते।

(जहॉ सूर्योदय के पहले अग्नि का आहरण नहीं किया जाता वहॉ वरुण यजमान के याग को बहिष्कृत कर देते है। इसके लिए वरुण को चरु की आहुति दी जानी चाहिए। इस आहुति के द्वारा यज्ञकर्ता यज्ञ को वापस बुला लेता है।)

अग्निष्टोम याग मे सायंतन सोमाभिषव के पश्चात् यजमान और यजमान पत्नी अवभृत स्नान के लिए किसी नदी (के पास) तक जाते हैं। जल में उतरने के पहले यजमान अनेक मत्रो का उच्चारण करता है। इन मत्रो में ऋग्वेद सहिता (1.24.8-9) वरुण को सम्बोधित हैं। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता का "अभिष्टितो वरुणस्य पाश."- इन दो मन्त्रों का भी पाठ करता है। इन मन्त्रों से वह वरुण के पाश को विजित करने की उद्घोषणा करता है। अवभृत के पश्वात् प्रदान की गयी ये आहुतियॉ (और) तथा बन्ध्या गाय अथवा अथवा वृषभ, अथवा पयोनिर्मित कोई अन्य हव्य यागगत सम्भावित त्रुटियों की क्षमा के लिये है।

(8) वरुण, मित्र अथवा मित्र और वरुण के ऋत अथवा व्रत से सम्बद्ध होने के कारण उनके द्वारा क्रियमाण ब्रह्माण्डीय कर्मों के लिए हम ऋग्वेद सहिता (1.24.8,10) को उद्धृत कर सकते हैं।

'उरु हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्था मन्वेत वा उ।

अपदे पादा प्रतिधातवेऽकुरुतापवक्ता हृदयविधश्चित्।।'

(विश्मल)

राजा वरुण ने सूर्य के चलने के लिए एक प्रशस्त मार्ग बना दिया है। उन्होंने अपने पैरों से आहत कर उन स्थानों पर भी सूर्य को पहुँचने के लिए मार्ग बनाया जहाँ कहीं कोई मार्ग ही नहीं था। वह धर्मबधन करने वाले व्यक्ति का निन्दक भी है।

"अमी या ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद्दिवेथु.।

अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति।।" (6- 62.3)

उपरिवर्तमान तारे रात्रि मे दिखाई पड़ते है वे दिन मे कहाँ चले गये हैं ? वरुण के व्रतों को हिंसित नहीं किया जा सकता। प्रकाशमान चन्द्रमा रात्रि मे ही परिलक्षित होता है।

"अधारयत पृथिवीसुत दयां मित्र राजाना वरुणा महोभिः।

वर्धयतामोषधी. पिन्वतं गा अव वृष्टिं सृजतं जीरदान्।।"

हे राजाओं हे मित्र और वरुण ! तुम दोनो ने अपनी शक्तियों से पृथिवी लोक एव द्युलोक को धारण किया। तुमने औषधियों को प्रावर्धित किया तथा गायों के स्तनों को फुलाया। हे उपहारों के प्रवर्धक तुमने वृष्टि की।

इसके अतिरिक्त इस प्रसंग में अन्य ग्रन्थो के साथ ऋक् संहिता (5.61.3), तैत्तिरीय संहिता (5-5.4.1), माध्यान्दिन सहिता (10 7 (Kanva text 11.14), तथा अथर्ववेद संहिता (3.3.3, 4.15.12, तथा 7.53.1) को सन्दर्भित किया जा सकता है।

(1) अब हम मित्र के दिन से सम्बद्ध होने और वरुण के रात्रि से सम्बद्ध होने के महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर विचार करेगे। इस परिप्रेक्ष्य मे अधोलिखित उपयुक्त ग्रन्थों को उद्धृत किया जाता है .-

ऋग्वेद संहिता (1.115. 5) से

"तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूप कृणुते द्यूोरुपस्थे।

अनन्तमन्यद्रु शदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति।।"

सूर्य, मित्र और वरुण के दर्शन के लिए द्युलोक के अग मे अभिव्यक्ति अकित करता है। (सूर्य) उसके विजयी अश्व निरन्तर शोभा का वहन करते है। उनमें एक प्रकाशमान है और दूसरा अन्धकारमय। ऋगवेद संहिता (8 . 41. 3.) से

"सक्षपः परिषस्वजे न्यु, श्रोमायया दधे स विश्वं परिदर्शितः।

तस्य वेनी रनु व्रतम उषस्तिस्रो अवर्धयन नमन्ता मन्यके समे।।"

उसने (वरुण ने) रात्रि को आवृत कर रखा है। ,

तैत्तिरीय संहिता (3.7.3, 4) से

मैत्रावरुणी द्विरूपाम आलभेत वृष्टि कामो मैत्रं वा अहवारुणी।

रात्रिरहोरात्राभ्यां खलु वै पर्जन्यो वर्षति...।।

मैत्रावरुणीं द्विरूपाम आलभेत प्रजाकामो मैत्र वा।

अहवारणी रात्रिरहोरात्राभ्यां खलु वै प्रजा. प्रजायन्ते।।

वर्षा की कामना करने वाले व्यक्ति के द्वारा श्वेत (सफेद) और काली रंग की 2 वन्ध्या गायो का आलभन (बलि) किया जाना चाहिए। दिन का सम्बन्ध मित्र और रात्रि का सम्बन्ध वरुण से है। यह सर्वविदित है कि बादल दिन और रात दोनो मे वर्षा करता है। सन्तान की

कामना करने वाले व्यक्ति द्वारा सफेद और काले रग की दो गायो का आलभन किया जाना चाहिये। वस्तुत· दिन मित्र से और वरुण रात्रि से सम्बद्ध है। यह सर्वविदित है कि मनुष्य दिन और रात्रि मे जन्म लेते हैं।

तैत्तिरीय संहिता (8 . 8.3-4) से

"न वा इदं दिवा न नक्तमासीद् आव्यावृत्तम्। ते देवा मित्रा वरुणाब्रुवन्निदं नो विवासयतमिति मित्रोऽहरजनयद् वरुणो रात्रिम् ततो वा इदं त्यौच्छद् यन्मैत्रावरुणो गृह्यते व्युष्टयै।।"

वस्तुतः दिन और रात दोनों अविभक्त थे। देवों ने मित्र और वरुण से कहा कि सम्पूर्ण विश्व को अलग-अलग प्रकाशित करो। मित्र ने दिन और वरुण ने रात्रि को प्रस्तुत किया। इसीलिए सोमयाग में (आहुत) प्रस्तुत किया गया। मैत्रावरुण कपाल प्रातःकालिक और सायंकालिक प्रकाश का प्रतिनिधित्व करने के कारण दिया जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण 17.4 से

"बहवः सूरचक्षस इति मैत्रावरुणं प्रगा· सशति। अहर्वे मित्रो रात्रिर्वरुण·। उभे वा एषोऽहोरात्रे रात्रयोरेवैनं तत् प्रतिष्ठापयति।।"

ऋग्वेद संहिता 7 . 66. 100. 11 के अनुसार होता अतिरात्र सोमयाग मे मित्रावरुण के लिए एक द्विपदी का पाठ करता है। वस्तुतः दिन मित्र है और रात्रि वरुण। अतिरात्र इष्टि

सम्पादित करने वाला यजमान दिन और रात दोनो का आरम्भ करता है। होना मित्र और वरुण के लिए पढ़ाई गयी द्विपदी के द्वारा याग के दिन और रात दोनो में प्रतिष्ठित करता है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण (1.5.3.3) से

"देवस्य सवितु. प्रातः प्रसव प्राण.। वरुणास्य सायमासवोऽपान.।" आगे बढने के लिए किया गया प्रातःकालीक अनुरोध सवितृ देवता का श्वॉस (प्राणवायु) है तथा सायंकाल प्रत्यागमन के लिए किया गया अनुरोध वरुण की अपानवायु है। दो और ऐसे अनुच्छेद है जो वरुण के रात्रि सम्बन्ध का संकेत करते हैं। उनके अस्पष्ट होने के कारण इस प्रसंग में उन्हें उद्धृत नहीं किया गया है।

उपरिनिर्दिष्ट उद्धरणों से सुस्पष्ट है कि मित्र दिन से सम्बद्ध है।

उसके सौरदेवता होने के कारण यह पूर्णतया स्वाभाविक है। वरुण का सम्बन्ध रात से है। जो एक नवीन सूचना मात्र है। वैदिक धर्म के लेखको के समक्ष ये उद्धरण बहुत पहले से थे। परन्तु उन्होंने या तो इनके महत्त्व पर ध्यान नहीं दिया अथवा इनका अर्थ इस प्रकार से गृहीत किया कि उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद संहिता 5 62.8, 63.1, 68.5 और 8. 101.2 में उन्हें एक ही रथ आरूढ़ वर्णित किया गया है। अतएव वे सूर्य और चन्द्रमा अथवा सूर्य और आकाश नहीं हो सकते।

उपरिवर्णित सम्पूर्ण तथ्यों के आधार पर यह सर्वथा स्वीकार्य है कि मित्र और वरूण एक ही सूर्य के दो मित्र पक्षो का प्रतिनिधित्व करते है अर्थात् मित्र दिन का सूर्य है और वरुण

रात्रि का। ऐतरेय ब्राह्मण का एक उद्धरण सूर्य के परिभ्रमण के विषय मे एक विचित्र सधारणा प्रस्तुत करता है जिसके अनुसार उपर्युक्त विचार को पर्याप्त समर्थन प्राप्त होता है।

अग्निष्टोम सोमयाग में अनेक इष्टियो का सम्पादन होता है। उनमे से प्रापणीय इष्टि, सोमयाग के पूर्व और उदयनीय इष्टि उसकी समाप्ति पर सम्पादित होती है। एक ही देवता अदिति के लिए दी गयी चरु की आहुतियो के कारण वे दोनों एक जैसी है। आरम्भ और अन्त की इस समानता के आधार पर ऐतरेय ब्राह्मण प्रधान याग (सोमयाग) के आरम्भ और अन्त की समानता प्रदर्शित करता है। इसे सूर्य की गति से तुलित किया जाता है। इस सम्बन्ध मे इस गति के बारे में अधोलिखित एक विलक्षण कथन उपलब्ध है :-

"स वा एष न कदाचनास्तमेति नोदेति। त यदस्तमेतेति मन्यन्तेऽह्नन् एव तदन्तमित्वाधात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेऽह. परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वाथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरे वावस्तात् कुरुते रात्रि परस्तात्। स वा एव न कदाचन निम्नोचति।"

वस्तुतः वह (सूर्य) न तो कभी अस्त होता है न उदित होता है। लोग सोचते हैं कि दिनान्त में वह डूबता है किन्तु वास्तव मे वह पीछे घूम जाता है। वह नीचे जाकर दिन वाला पक्ष और ऊपर रात्रि पक्ष प्रदर्शित करता है। सुनिश्चित रूप से वह कभी भी अस्त नहीं होता। इसका यह अर्थ है कि सूर्य के दो पक्ष हैं :- एक प्रकाशमय और दूसराअन्धकारमय। दिन के समय हम उसका प्रकाशित पक्ष देखते है और रात्रि मे यह प्रकाशित पक्ष तारकित आकाश की ओर घूम जाता है।

इन दोनो प्रकार की सूचनाओं को सयोजित करने पर दो तथ्य उभरकर सामने आते है :-

(1) मित्र दिन से सम्बद्ध है और वरुण रात्रि से।

(2) सूर्य के 2 पक्ष है - एक प्रकाशमय जो दिन में परिलक्षित होता है और दूसरा अन्धकारमय जो रात्रि में दृष्टिगत होता है।

उपरिवर्णित तथ्यो के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मित्र दिन वाला सूर्य और वरुण रात्रि वाला है अर्थात् वे दृश्यमान् सूर्य के दोनो पक्षो का प्रतिनिधित्व करने वाले देव हैं। यह सूर्य दोनों का चक्षु अथवा जासूस है जिसके माध्यम से वे दोनों मानवीय आचरण का निरीक्षण करते हैं और ऋत् अथवा व्रत वालो को दण्डित करते है।

ऋत् अथवा व्रत के ब्रह्माण्डीय व्यवस्था से सम्बद्ध होने के कारण वृष्टि करना तथा नदियो को प्रवाहित करना कर्मों में परिगणित होता है। ये दोनों ही कार्य जल से सम्बद्ध है। वरुण के जल से सम्बद्ध होने के दो विशिष्ट कारण हैं -

(1) पाप कर्म करने वाले के लिए वह जलोदर से ग्रसित होने का दण्ड देता है। जो शरीर के मध्यभाग में विद्यमान (उदर) प्रकोष्ठो के अन्दर जल निर्माण से सम्बद्ध है।

(2) डूबता सूर्य, वरुण जिसके प्रतिनिधि देवता है, समुद्र के अन्दर प्रवेश करता हुआ लगता है। ऋग्वेद संहिता 7 . 87. 7 में उल्लिखित है -

"अवसिन्धु वरुणो द्ययोरिव स्यात्"

वरुण द्युलोक की तरह समुद्र के नीचे चला गया है। नाव वाले तथ्य के आधार पर ही अनुवर्ती साहित्य मे समुद्र को वरुण का आलय अथवा आवास कहा गया है। दयालु हृदय व्यक्ति के लिये करुणावरुणालय सामान्य राजनैतिक अभिव्यक्ति है।

(10) अब मैं अनुवर्ती साहित्य में वरुण के पश्चिम दिशा से सम्बद्ध होने के तथ्य पर विचार करूँगी। प्रारम्भिक वैदिक युग मे वैदिक आर्यों को केवल पश्चिमी समुद्र का ज्ञान था। पूर्वी समुद्र का ज्ञान बहुत बाद में हुआ। अमर कोशकार अमर सिंह ने दिशाओ और प्रतिदिशाओं की अधोलिखित सूची प्रस्तुत की है-

"इन्द्रो वह्निः पितृपति नैर्ऋतो वरुणो मरुत्।
कुबेर ईश पतय. पूर्वादीनां दिशा क्रमात्।।"

(1.2.4)

इन्द्र, अग्नि, यम, नैर्ऋत, वरुण, मरुत्, कुबेर तथा ईशान क्रमश· पूर्व, दक्षिण-पूर्व, दक्षिण-पश्चिम, पश्चिम, उत्तर-पश्चिम, उत्तर और उत्तर-पूर्व दिशाओ के स्वामी है।

इस प्रकार इस विषय में पूर्ण विषयगत एवं ऐतिहासिक सुस्पष्टता है कि वरुण मूलतः डूबते हुए सूर्य अथवा रात्रिसूर्य के प्रतिनिधित्व करने वाले देवता थे और उनकी सभी सात विशेषताएँ इसी मौलिक तथ्य में विकसित हुई हैं। यहॉ दो अगले प्रश्न समुद्भूत (उत्पन्न) होते हैं-

(1) वरुण के नाम का निर्वचन

(2) उनके अपृथक्करणीय सहयोगी मित्र का नाम वरुण से भिन्न।

(1) वरुण के नाम का निर्वचन -

मै पहले कह चुकी हूॅ कि वरुण पद आच्छादित करने अर्थवाली वृ धातु से निष्पन्न है। आकाश तो जगत् को सुनिश्चित रूप से आच्छादित करता ही है परन्तु रात्रि भी अपने अन्धकार रूपी आचरण से वही कार्य करती है। रात्रि को समर्पित एक मात्र सूक्त ऋग्वेद सं. 10.127 . 2अ - अर्धर्च (आ उरु अप्रा अमर्त्या में उसे ब्रह्माण्ड का ढकने वाली कहा गया है तथा उसके आवरक एव (अस्पर्शगोचर) सुस्पष्ट दानी भूत अन्धकार के स्तोता के समक्ष स्थित कहा गया है (उपमा पेपिशत्तम· कृष्णं व्यक्तमस्थित)

(2) द्वितीय तथ्य पर विचार करते समय हमे यह समझना चाहिए कि वेदो में सूर्य देवता से सम्बद्ध सवितृ, विष्णु, पूषन् और मित्र आदि अनेक और देवता है।

इस प्रकार विषयगत साक्ष्य की आवश्यकतानुसार एक दूसरे वरुण को मान्यता न प्रदान करने का कोई कारण नहीं है। प्राचीन मिस्र की पुराकथा में हमें सूर्यदेवता के समकक्ष आने जाने वाले 'रा' अथवा 'रे' के तीन नाम उपलब्ध होते हैं :-

(1) प्रात.कालिक सूर्य के लिए 'खेपेरा' (KHEPERA).

(2) माध्यन्दिन सूर्य के लिए 'रा' अथवा 'रे' (RA or RE).

(3) और सायंकाल सूर्य के लिए 'टेमू' अथवा अतुम् (TEMU or ATUM).

मिस्र की 'द बुक ऑफ डेड' (THE BOOK OF DEAD) में हमें 'रा' या 'री' के उदित होने और अस्त होने से सम्बद्ध सूक्त प्राप्त होते हैं। डूबते हुए सूर्य के रूप उसे

सम्बोधित एक सूक्त मे हमे अधोलोक (पाताल लोक) के सम्वन्ध मे एक अधोलिखित सन्दर्भ उपलब्ध है .-

"पश्चिम दिशा पर प्रकाश पडने पर अधोलोक के स्वामी प्रसन्न होते है। अव वे तुझे देखते है, उनकी ऑखे खुलती है। जब वे तुझे देखते है, तब उनके हृदय अतीव आनन्दित होते है।"

यह उद्धरण हमें उपरि उल्लिखित ऐतरेय ब्राह्मण 15. 6 के उद्धरण तथा ऋग्वेद सहिता (10. 14.7) के 'शवयात्रा सूक्त' अधोलिखित पद्य का स्मरण कराता है।

"प्रेहि प्रेहि पथिभि पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वे पितर. परेयु.।

उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यसि वरुणं च देवम्।।"

हमारे पूर्वजों के द्वारा गमित प्राचीनतर मार्गो से आगे बढ़ो। तुम वहॉ दोनों (मित्रावरुण) राजाओं, यम तथा वरुण को मृतको को दिये जाने वाले कव्य मे आनन्दानुभूति करते हुए देख सकते हैं।

उपर्युक्त उद्धरण मात्र सामान्य मानवीय मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में वैदिक विचारधाराओ को समझने के लिए हैं। न कि एक दूसरे को प्रभावित करने के लिए। प्राचीन मिस्र और वेदकालीन भारत के सांस्कृतिक सम्पर्क को प्रदर्शित करने वाला एक भी साक्ष्य नहीं है।

अब मैं आदित्यो अथवा वरुण के अनन्य पूजनीय देवों की समानता के बारे में कतिपय सुझावों पर विचार प्रस्तुत करूॅगी। वियना के बर्नार्ड जेजर ने पारसी धर्म के अमेशा स्पेन्ता (amesha-spentas) से सम्बद्ध अपने व्यापक अध्ययन मे और आदित्यों को बेबीलोनिया के

सौरमण्डल से समुद्भूत होने वाले ओल्डेन वर्ग के विचारो को नहीं स्वीकार किया है परन्तु उन्होने (बर्नार्ड ने) कहा है कि वरुण सूक्तो और बेबीलोनिया एव असीरिया की स्तुतियों मे समानताओ के बारे मे कोई विवाद नहीं है। उन्होंने अमेशा स्पेन्ता और आदित्यो को समीकृत करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि दोनो की उत्पत्ति एक जैसी है। उन्होने नि:संकोच वरुण को अहुर मज्दा के रूप मे स्वीकार किया है किन्तु सादृश्य को समरूपता नहीं स्वीकारा जा सकता है।

वास्तव में प्रकाश की शक्तियो और सत्य की खोज में सम्बन्ध स्थापन मानव मनोविज्ञान में सन्निविष्ट है। प्रकाश पुण्य का प्रवर्द्धक है अर्थात् प्रकाश में पुण्य प्रवृद्ध होता है तथा अन्धकार में पाप प्रबृद्ध होता है। अनेक कारणों से आदित्यों के चरित्र का बेबीलोनिया, इजरायल तथा अवेस्ता की विचारधाराओ से अप्रभावित स्वीकार करने मे कोई कठिनाई नहीं है।

सुभाषित

(ऋग्वेद और अथर्ववेद से गृहीत)

1. अतो विश्वान्यद्भुताचिकित्वॉ अभि पश्यति। 1/25/11

   वह ज्ञानी वरुण अपने स्थान से सारे अद्भुत पदार्थों को देखता है।

2. अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि। 3/54/18

   वरुण के नियम अकाट्य है।

3. अबुध्ने राजा वरुण। 1.24 7

राजा वरुण आलम्बनरहित अन्तरिक्ष में है।

4. अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते। 7/83/3

यह राजा वरुण तुझ पापी से क्रुद्ध है।

5. आदित्य सुपथा करत्। 1/25/12

अदिति पुत्र वरुण हमें सन्मार्ग पर ले चलें।

6. आसीद् विश्वाभुवनानि सम्राट । 8/42/1

सम्राट वरुण सारे संसार मे अधिष्ठित है।

7. उदुत्तमं मुमुग्धि नो पाशं मध्यमं चृत। 1/25/21

हे वरुण तुम हमारे उत्तम और मध्यम पाशों को काट दो।

8. उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पन्थाम्। 1/24/8

राजा वरुण के लिए सूर्य ने विशाल मार्ग बनाया।

9. कृष्टीरन्यो धारयति प्रविक्ता.। 7/85/3

वरुण चारो ओर व्याप्त प्रजाओ को धारण करता है।

10. त्वं विश्वेषां वरुणसि राजा। 10/132/4

हे वरुण! तुम सबके राजा हो।

11. धीरममृतस्य गोपाम्। 4/82/2

वरुण धीर है और अमृत का रक्षक है।

12. ब्रह्मा कृणोति वरुणः। 1/105/15

वरुण स्तुति कर्ताओ को ज्ञान देता है।

13. महि प्सरो वरुणस्य। 1/41/7

वरुण का स्वरूप महान् है।

14. महीं मायां वरुणस्य प्रवोचम्। 5/85/5

मैं वरुण की महान् शक्ति का वर्णन करता हूँ।

15. रदत् पथो वरुणः। 7/87/1

वरुण ने सूर्य के चलने के लिए मार्ग बनाया।

16. राजा वरुणो यांति.......सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम् । 7/49/3

राजा वरुण मनुष्यो के सत्य और असत्य का निरीक्षण करता है।

17. वाजमर्वत्सु पय उस्रियाम्। 5/85/2

वरुण ने घोड़ो में शक्ति दी है और गायो मे दूध।

■

अध्याय - पञ्चम

'आदित्यगण और मित्र, मित्रावरुण तथा पूषा' - पर शोधात्मक अध्ययन

अध्याय - पंचम

आदित्यगण और मित्र, मित्रावरुण तथा पूषा

अदिति से उत्पन्न होने वाले देवो को आदित्य नाम से जाना जाता है। अदिति शब्द मुख्यत. एक सज्ञा है जिसका अर्थ 'खोलना' या बन्धनर्हीनता है। 'अदिति सार्वभौमिक प्रकृति के मूर्तीकरण का प्रतिनिधित्व करती है, अदिति आकाश है ; अदिति वायु है , अदिति माता, पिता और पुत्र हैं; सभी देव और पॉच जातियॉ, अदिति है; वह सव कुछ जिसने जन्म लिया अदिति है सब कुछ जो जन्म लेगा वह भी अदिति ही है। अदिति मित्र, वरुण, अर्यमा, दक्ष, भग, पूषा, त्वष्टा, विष्णु, धाता, अंशु, पर्जन्य, सविता की जनर्नी है। आकाश से सम्वन्धित दिव्य शक्तियो में आदित्यों का गण वैदिक साहित्य में अपने महत्त्व के कारण अद्वितीय स्थान रखता है।

मित्र :- मित्र शब्द मैत्री और सुलह का वाची है। मित्र वह महान् आदित्य देव है जो 'मनुष्यों में एकता लाते हैं। मित्र शान्ति के देवता के रूप मे भी माने जाते हैं। अवेस्ता मे 'मिथ्र' अपने चरित्र के नैतिक पक्ष से सम्बन्धित तथा विश्वसनीयता का रक्षक है। यह मित्र देव मूलत. साथी या मित्र का ही वाचक और प्रकृति की एक हितकर शक्ति के रूप मे सूर्यदेव के लिए ही व्यवहृत हुआ होगा। मित्र देव का ऋग्वेद में स्वतंत्र उल्लेख वहुत कम है। मित्र अपने आदेश से मनुष्यों को अपने-अपने कर्मों मे प्रेरित करते हैं और निर्निमेष दृष्टि से मनुष्यों को देखते है[1]।

ऋग्वेद संहिता का अधेलिखित मंत्र मित्र की विशेषता बतलाता है .-

---

[1] ऋ0स0 (3 59 1)।

मित्र के व्रत का पालन करने वाला व्यक्ति समृद्धिशाली होता है उसे न कोई मार सकता है और न जीत सकता है, उसे कोई भी व्याधि नहीं होती[1] -

प्र स मित्र भर्तो अस्तु प्रयम्वान्

यस्त आदित्य शिक्षित व्रतेन।

न हन्यते न जीयते त्वोतो

नैनमहो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्।।

पृथिवी और द्युलोक को धारण करने की दिव्यशक्ति तो लगभग सभी देवों मे समान है किन्तु 'यातयज्जन' मित्र की अपनी एक विशिष्ट उपाधि से सम्बद्ध है।

"मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम्।

मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्य घृतवज्जुहोत।।"

(ऋग्वेद 3. 59. 1)

'यातयज्जनो गृणते सुशेवः' ऋक्0 सहिता (3/59/5) यह मित्र की विशिष्ट उपाधि है तथापि अग्निदेव के लिए एक बार (मित्र न यातयज्जनम्) अर्थात् मित्र की भॉति अग्नि के वैशिष्ट्य के रूप में उल्लिखित है।[2]

तमर्वन्तं न सानसिं गृणीहि विप्र सुष्मिणम्।

मित्रं न यातयज्जनम् (ऋक् सहिता 8/102/12)

---

[1] ऋ0स0 (3.59 2)।
[2] ऋ0स0 (3.102.12)।

मित्र को सम्बोधित एक सूक्त इनके सम्बन्ध में यह भी उद्घोषणा करता है कि यह आकाश और पृथिवी को द्योतित करते हैं। मनुष्यों की पाँच जातियाँ इनकी आज्ञा का पालन करती है और यह सभी देवो को आश्रय देते हैं। अथर्ववेद में मित्र का प्रात-काल से सम्बन्ध वर्णित है (स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्)[1] और 9/3/18 मे कहा है कि मित्र प्रात काल उसे प्रकाशित करे जिसे वरुण ने छिपा रखा था (वरुणेन समुब्जितं मित्र. प्रातर्व्युब्जतु)। इन सकेतो से यह पता चलता है कि मित्र का सूर्य अथवा प्रकाश से विशेष सम्बन्ध अवश्य है। अवेस्ता मे मित्र के स्वरूप पर दृष्टि डाली जाय तो इस तथ्य की प्रबल पुष्टि होती है। रोमन साम्राज्य मे अपराजेय सूर्य (SOL INVICTUS) के रूप में इनकी उपासना भी मित्र का प्रकाश से सम्बद्ध होने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। ऋक् संहिता 5/3/1 द्वारा प्रदीप्त अग्नि को मित्र का रूप और सद्योजात अग्नि को वरुण का रूप बताया गया है -

'त्वमग्ने वरुणो जायसे यत्त्वं मित्रो भवसि यत्समिद्धः'।

शतपथ ब्राह्मण 2/3/2/92 में भी उल्लिखित है कि जब अग्नि की ज्वालाएँ शान्त हो जाती हैं और थोड़ी-थोडी आग लकडियो में जलती रहती है तो वह मित्र देव के समान होती है। उस समय वह हानिकारक नहीं होती। मित्र तो सभी के सुहृद हैं । वह किसी का वध (पीडोत्पादन) नही करते। वह अत्यन्त शान्त हैं और उनके स्वभाव मे ब्राह्मण के समान शीतलता है :-

'अथ यत्रैतत् प्रतितरामिव तिरश्चीवार्चिः संशाम्यतो भवति तर्हि हैष भवति मित्र.। यमाहु. सर्वस्य वा अय ब्राह्मणो मित्रम्। नवा अयं कचन हिनस्ति।'

---

[1] अर्थ0 (13 3 13)।

ब्राह्मण ग्रन्थों में मित्र के इसी पक्ष को स्वीकार किया गया है। तैत्तिरीय संहिता 5/1/6 में कहा गया है कि मित्र देवो में सर्वाधिक मंगलमय है – (मित्रो वै शिवो देवानाम्)

शतपथ ब्राह्मण 5/3/2/7 में उल्लिखित है – मित्र किसी की हानि नहीं करते, वे सबके मित्र है। अतएव मित्र को भी कोई हानि नहीं पहुँचाता। न उन्हे कोई कॉटा गडता है और न कोई व्रण होता है .-

'न वै मित्रः कचन हिनस्ति। सर्वस्य हि एव मित्रो मित्रम्। न मित्र कश्चन हिनस्ति। नैनं कुशो न कण्टको विभनत्ति। नास्य व्रणश्च नास्ति।'

मित्र को अवेस्ता में पारस्परिक सन्धि की शर्तों का सरक्षक कहा गया है। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता में उल्लिखित है यदि संग्रामरत कोई व्यक्ति शान्ति का इच्छुक हो तो उसे मित्र की उपासना करनी चाहिए। मित्र दोनों पक्षों को आपस में मिलाते है।[1] तैत्तिरीय संहिता में मात्र एक स्थान पर आये दो वाक्यों से मित्र एवं सूर्य की एकरूपता की ध्वनि मिलती है। वाजसनेयि संहिता में कहा गया है कि –

हम मित्र के नेत्र से सभी प्राणियों को देखें और सब प्राणी हमें भी मित्र के नेत्र से देखें .-

'मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।

मित्रस्या मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।'

---

[1] 'मैत्रमालभेत सग्रामे सयत्ते समयकामी मित्रमेव स्वेन भागधेयेन उपधावति। ए एवैन मित्रेण सनयति।' (तैत्ति0 स0 2 1 8)।

ठीक इसी आशय का तैत्तिरीय सहिता का एक उद्धरण उपलब्ध होता है जिसमे उल्लिखित है कि मै तुम्हे सूर्य के नेत्रो से देखता हूँ, क्योंकि सूर्य कभी किसी को हानि नहीं पहुँचाता-

"सूर्यस्य त्वा चक्षुषा प्रतिपश्यामि इत्यब्रवीत्।

न हि सूर्यस्य चक्षु कचन हिनस्ति।।"

पूषा के सदृश पुराणो एव महाभारत मे मित्र का वहीं उल्लेख है जहाँ अन्य सभी देवताओ का वर्णन किया गया है। आदि पर्व 122/66 में अर्जुन के जन्म के समय आये हुए अन्य देवताओं की उपासना में ही मित्र की उपासना भी की गयी है। आदि पर्व 226/36 में खाण्डवदाह के अवसर पर अर्जुन से युद्ध करने के लिए आये देवों की उपासना के समय ही मित्र की उपासना की गयी है। शल्यपर्व मे स्कन्द को आशीर्वाद देने के लिए आये हुए देवों के साथ ही मित्र की उपसना का उल्लेख प्राप्त होता है, अकेले मित्र की उपासना के कम उद्धरण देखने मे आते है। वस्तुतः मित्र को लक्ष्य करके ही उनकी उपासना किये जाने के प्रमाण कम ही स्थलो पर उपलब्ध है।

मित्रावरुण

वैदिक वाड्मय में देवो मे मित्र और वरुण का सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है। महत्त्व की दृष्टि से देखने पर ऋग्वेद का यह देवयुग्म एक विशेष स्थान रखता है। ऋग्वेद में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देवयुग्म द्यावापृथिवी का रहा है। मित्र-वरुण का आह्वान सम्मिलित रूप से अधिक स्थलो पर किया गया है। मित्र और वरुण दिवा-रात्रि से क्रमशः सम्बन्धित है । मित्र और वरुण का उद्भव भी लगभग समान रूप से सम्बद्ध है। वरुण के साथ मिल जाने पर तो मित्र का अपना व्यक्तित्व

ही पूर्णरूपेण लुप्त हो गया लगता है। जो अकेले वरुण की विशिष्टता है वही वैशिष्ट्य मित्रावरुण का भी है।[1]

ब्राह्मण ग्रन्थों मे मित्र और वरुण के प्राकृतिक आधार पूरी तौर पर विस्मृत हो चुके हैं। उनकी केवल युग्मत्व की भावना सुरक्षित रह गयी है। इसीलिए ब्राह्मण ग्रन्थो मे किन्हीं भी दो परस्पर सम्बद्ध वस्तुओ का मित्रावरुणा से तादात्म्य कर दिया जाता है। यज्ञिय कृत्यों मे विभिन्न स्थलों पर दी जाने वाली मैत्रावरुण हवि की व्याख्या मे ब्राह्मणों ने पूर्ण स्वेच्छाचारिता प्रदर्शित की है। शतपथ ब्राह्मण मे उल्लिखित है कि नि.श्वास (प्राण) तथा उच्छ्वास (उदान) ही क्रमश. मित्र और वरुण हैं[2].-

"प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ।"

शतपथ ब्राह्मण में मित्र और वरुण की सूक्ष्म भावात्मक व्याख्या इस प्रकार की गयी है। मित्र संकल्प है (क्रतु) है और वरुण क्रिया (दक्ष)। जो मानव मन मे सोचता है वह मित्र का अंश है वरुण की सहायता से वह उसे कार्यरूप मे परिणत करता है इस प्रकार 'मित्र' ब्रह्म है और वरुण 'क्षत्र'। प्रथम विचारक है तो द्वितीय कर्ता[3] -

"क्रतूदक्षौ ह वा अस्य मित्रावरुणौ। एतत् नु अध्यात्मम्। स यदेव मनसा कामयते इदं मे स्यात् इद कुर्वीय इति स एव क्रतु.। अथ यदस्मै तत् समृध्यते तत् दक्ष.। मित्र एव क्रतुः वरुणो दक्ष.। ब्रह्मैव मित्र. क्षत्रं वरुण.। अभिगन्ता एव मित्र. कर्ता क्षत्रियः।"

---

[1] देखिए - मैक्डॉनेल वै0मा0, पृ0 27 तथा 127। वैदिक युग्म देवताओ की विस्तृत समीक्षा के लिए J Gonda dk 'The dual deites in the religion the religion of Veda (Amsterdam1974) ग्रन्थ दृष्टव्य है।

[2] शत0ब्रा0 (1 8 3 12 तथा 5 5 1 12)।

[3] शत0 ब्रा (4.1.4 1)।

शतपथ ब्राह्मण में वरुण को चन्द्रमा का तथा मित्र को सूर्य का रूप ध्वनित किया गया है इस उद्धरण के अनुरूप शुक्ल पक्ष वरुण है और कृष्ण पक्ष मित्र। अमावस्या की रात्रि को वरुण (चन्द्रमा) तथा मित्र (सूर्य) मिल जाते है। तब मित्र वरुण में अपने तेज का निक्षेप करता है।[1] -

"अथैतावेवार्धमासौ मित्रावरुणौ। य एवापूर्यते स वरुण य. अपक्षीयते स मित्र.। तावेत रात्रि (अमावस्यां) उभौ समागच्छत । तद्वा एता रात्रि मित्रो वरुणे रेतः सिञ्चति।"

आचार्य सायण की इस पर उक्ति -

"स एवार्धमास. समन्तात् वर्धमानया चन्द्रकलया पूर्णो भवति स अमृतरससम्बन्धात् वरुणः स हि रसाभिमानी देव.। य अर्धमास क्षीयमाणचन्द्रकलायुक्तो भवति स अपरपक्षः मित्र.। तौ चन्द्रसूर्यात्मकौ मित्रावरुणौ उभौ एतां दर्शरात्रि सह समाप्नुत.।"

ऐतरेय ब्राह्मण 4/2/4 कहता है कि मित्र दिन है और वरुण रात्रि। (अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुण उभे वा एषोऽहोरात्रे आरभते)। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता 2/1/7 में भी दिन को मित्र से तथा रात्रि को वरुण से सम्बद्ध किया गया है। (मैत्रावरुणौ द्विरूपमालभेत प्रजाकामो मैत्रं वा अहर्वारुणी रात्रि.)। मित्र मूलतः सूर्य का देवता था। अत. प्रकाश से उसका अन्त तक सम्बद्ध रहना स्वाभाविक है। उत्तरवर्ती काल में मित्र और वरुण के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध के कारण दिन से अविभाज्य रूप से सम्बन्धित रात्रि का वरुण से सम्बन्ध हो गया। यजुर्वेद 29/6 मे आए एक मंत्र से भी मित्र का दिन से तथा वरुण का रात्रि से सम्बन्ध ध्वनित है यहॉ उषा को मित्र और वरुण के बीच मे विचरण करती हुई कहा गया है.-

---

[1] शत0ब्रा0 (2 4.4 18,19)।

"अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुख यज्ञानामभि सविदाने।

उषा सा ....। वाज0 स0 29/6"

सम्भवत इसीलिए तैत्तिरीय सहिता 2/1/9 में मित्र के लिए (श्वेत) सफेद तथा वरुण के लिए कपिला गौ के आलभन का विधान है।

वरुण जल का अधिपति है और मित्र वृक्षो का- यह भी तैत्ति0 स0 में 2/1/9 में कहा गया है। अत. मित्रावरुणौ को दी जानेवाली वलि इन दोनो के संगम पर होनी चाहिए।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि वरुण को मथकर निकाले गये नवनीत की और मित्र को स्वय निकले हुए मक्खन की आहुति देनी चाहिए।[1]

शतपथ ब्राह्मण मे उल्लिखित है .-

स्वत. उत्पन्न अन्न, वन्यधान्य का स्वामी मित्र है और जोती हुई भूमि मे उत्पन्न अन्न का स्वामी वरुण।[2]

ब्राह्मण ग्रन्थो के पश्चात् महाभारत मे ही मित्रावरुण का उल्लेख मिलता है। शल्य पर्व 54/14 मे एक स्थल पर मित्रावरुण से अगस्त्य एव वसिष्ठ ऋषि की उत्पत्ति का कथानक वर्णित है। जो रामायण में उत्तर काण्ड 56/13-24 तथा मत्स्य पुराण 61/27-31 में भी उपलब्ध होती है।

एक संक्षिप्त प्रसंग मित्रावरुण के सन्दर्भ मे इस प्रकार है :-

---

[1] इस प्रकार के मक्खन को प्राप्त करने की प्रक्रिया के लिए देखे - (शत0ब्रा0 5 3 2 6 पर सायण भाष्य और आश्व0श्रौ0सू0 18 11 3-6)।

[2] शत0ब्रा0 (5 3 3 8)।

एक वार वरुण ने उर्वशी को सम्भोग के निमित्त अपने पास बुलाया। उर्वशी ने कहा 'मित्र ने मुझे पहले ही वरण कर लिया है अतएव मैं आपकी यह इच्छा पूर्ण नहीं कर सकती, पर मै हृदय से आपकी हूँ। मित्र को जब इस तथ्य का पता चला तो उन्होने उर्वशी को पृथिवी तल पर जाने और पुरूरवा की पत्नी बनने का शाप दिया।'[1]

कामासक्त मित्र और वरुण ने एक जलकुम्भ मे अपने तेज को निक्षिप्त किया जिससे वाद मे अगस्त्य और मैत्रावरुणि वसिष्ठ की उत्पत्ति हुयी :-

"ततः कामयमानेन मित्रेणाहूय सोर्वशी।
उक्ता मां रमयस्वेति वाढमित्यब्रवीच्च सा।
गच्छन्ती चाम्बर तद्वत् स्तोकमिन्दीवरेक्षणा।
वरुणेन धृता पश्चात् वरुण नाभ्यनन्दत।।
मित्रेणाह वृता पूर्वं अथ भार्या न ते प्रभो।
उवाच वरुणश्चितं मयि सन्यस्य गम्यताम्।।
गताय वाढमित्युक्त्वा मित्र. शापमदात् तदा।
तस्यै मानुषलोके त्व गच्छसोमसुतात्मजम्।।
भजस्वेति यतो वेश्याधर्मं एव त्वया कृतः।
जलकुम्भे ततो वीर्यं मित्रेण वरुणेन च।
प्रक्षिप्तमथ सजातौ द्वावेष मुनिसत्तमौ।।"

---

[1] पुरुखा और उर्वशी के इस प्रेम की कन्या का वैदिक वाड्मय मे ऋग्वेद (10 95, तथा शत0ब्रा0 11 5 1 17) मे उल्लेख मिलता है। परवर्ती साहित्य में यह रामायण, मत्स्यपुराण, पद्मपुराण, ब्रह्मपुराण, विष्णुपुराण तथा भागवत् आदि मे प्राप्त होती है। इसीके आधार पर कालिदास ने अपने विक्रमोर्वशीयम्' नाटक की रचना की है।

वरुण और मित्र के वीच में दोलायमान यह उर्वशी (वा0 य0 की अन्तग मित्रावरुणा चरन्ती) रात्रि और दिन के बीच अवस्थित उषा के अतिरिक्त और क्या हो सकती है?) प्रस्तुत कथा मित्र और वरुण के पूर्ण पार्थक्य की व्यञ्जना करती हुई भी उभय स्वरूपगत साम्य को सूचित करती है। अन्यत्र भी यही बात है। रामा0 उत्त0 56/13 मे उल्लिखित है कि एक बार मित्र वरुण की अनुपस्थिति मे क्षीरसागर मे रहते हुए वरुण का कार्य सम्भालते रहे :-

"तमेव काल मित्रोऽपि वरुणत्वमकारयत्।
क्षीरोदेन सहोपेत. पूज्यमानः सुरोत्तमै ।।"

वस्तुतः मित्र और वरुण दोनो अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं तथापि मित्र और वरुण का इस प्रकार जुड़कर एक हो जाना, परवर्ती हिन्दू देवशास्त्र में सुविख्यात उस प्रक्रिया का परिचय देते है जो स्वरूप की दृष्टि से साम्य रखने वाले देवो को परस्पर जोडकर एक उच्चतर देवता की सृष्टि का आयाम देते हैं।

मित्रावरुण के सम्बन्ध मे वैदिक वाड्मय से कुछ सुभाषित उनकी महत्ता की अभिवृद्धि करने में सहायक सिद्ध हुए है :-

1. 'अञ्जसा शासता रजः' - मित्र-वरुण ठीक ढंग से लोको का शासन करते हैं।[1]
2. 'ऋतं पिपर्ति, अनृतं नि तारीत्' - मित्र (सूर्य) सत्य को वढ़ाता है और असत्य से बचाता है।[2]
3. 'सत्यधर्माणा परमे व्योमनि' - सत्यप्रिय मित्र-वरुण आकाश में रहते हैं।[3]

---

[1] ऋ0 (1 139 4)।
[2] ऋ0 (1 152 3)।
[3] ऋ0 (5 63.1)।

4. 'ऋतेन विश्व भुवन विराजय.' - मित्र-वरुण सत्य से सारे ससार में प्रकाशित हो रहे है।[1]

5. 'युवोर्विश्वा अधिश्रिय.' - मित्र वरुण मे सारी लक्ष्मी निहित हैं।[2]

<u>पूषा</u>

ऋग्वेद के छ. सूक्तों मे पूषा की स्तुति की गयी है। पूषन् शब्द पुष् धातु से बना है और इसका अर्थ है पोषक अथवा पुष्ट करने वाला। पूषा सूर्य की कल्याणकारिणी एव मनुष्यो को पुष्ट करने वाली शक्ति का प्रतीक है। उनके 'पुष्टिम्भर' तथा 'पुरुवसु' आदि विशेषण इनका संकेत करते हैं। वे अत्यधिक धन के स्वामी है ऋक् सहिता (6.55.2-3) (ईशान गयसो महः) वे धन की धारा तथा वसु की राशि प्रदान करते है। (6.53.3)।

सूर्य से उनका सम्बन्ध ऋग्वेद में सभी स्थानो पर मिलता है। सूर्य के सदृश वे भुवनों को एवं प्राणिमात्र को स्पष्टतया देखते है। (3/62/9)। वे विश्व का अवलोकन करते हुए आगे बढ़ते हैं। (विश्वमन्यो अभिचक्षाण एति 2.40.5)। इनका स्थान अत्यन्त ऊँचे आकाश में है। (दिव्यन्यः सदनं चक्र उच्चा, 2.40.4)। वे सविता देवता की प्रेरणा से विचरण करते है। (यस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्, यजु0 17/58)। उनका एक अपना प्रमुख विशेषण आघृणि (प्रकाशमान) है जो बाद में घृणि रूप में सूर्य का विशेषण बन गया है। पूषा को अपनी माता अथवा भगिनी (उषा) का जार भी कहा गया है। (मातुर्दिधिषुम् अब्रवं ससुर्जार· श्रृणोतु न., 6.55.5) जो निश्चित रूप से अनेक सूर्य होने का परिचायक है। 6.58.4 मे कहा गया है कि देवो ने सूर्या (उषा) को भी पूषा

---

[1] ऋ0 (5 63.10)।

[2] ऋ0 (1 139 3)।

को प्रदान कर दिया (य देवासो अददु सूर्यायै कामेन कृत तवस स्व चम्)। सूर्यासूक्त में पूषा से कहा गया है कि वे वधू का हाथ पकडकर ले जाएँ और गृहस्थ सुख प्राप्ति के लिए आशीर्वाद दे (पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्य, 10.85-26)।

विण्टरनित्स का कथन है कि ऋग्वेद के देवमण्डल में आने से पूर्व पूषन् संभवत किसी छोटी आभीर जाति के सूर्यदेव थे।[1] वस्तुत. ऋग्वेद मे वर्णित पूषन् के मार्गों को जानने, यात्रियों की रक्षा करने तथा खोए पशुओं को घर लौटा लाने आदि की विशेषताएँ विण्टरनित्स के इस कथन की पुष्टि करते हैं। वे प्रत्येक मार्ग के सरक्षक और स्वामी है। इसीलिए उन्हें प्रायः पथस्पति कहा गया है (पथस्पथ. परिपतिं वचस्या, 6.49.8.0 वयमुक्त्वा पथस्पते, 6.53.1)। वे पथप्रदर्शक (प्रपथ्य) भी हैं। अत. यात्री पूषा को हवि प्रदान करके ही यात्रा प्रारम्भ करते हैं और भटकने पर पुनः ऋ0वे0 6/53 सूक्त से पूषन् की स्तुति करते हैं। (आश्व0 गृ0 सू0 3.7.8.) तथा शाखा0 श्रौ0 सू 3.4.9। शांखायन गृह्य सूत्र 2.10.10 मे पूषा के लिए उनका सायकालीन बलिभाग घर की देहली के बाहर रख देने का विधान है। मार्ग के अधिपति होने के कारण ही ऋग्वेद मे स्थान-स्थान पर पूषन् से मार्ग के विघ्नो एवं वृको, दस्युओ आदि को दूर रखने की प्रार्थना की गयी है (यो नः पूषन्नघो वृको दु.शेव आदिदेशति। अपस्म त पथो जहि। ऋ0 1.42.2; अपत्यं परिपन्थिनं मुषीवाणं हुरश्चितं। दूरमधिस्रुतेरज। ऋ0 1.42.3)।

---

[1] विन्टरनित्स हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर प्रथम भाग, पृ0 65। वस्तुत श्री जी0सी0 त्रिपाठी के गुरुवर्य प्रो0 उलरिष् स्नाइडर (म्युस्टर विश्व विद्यालय) भी पूषन् को यूनानी तथा रोमन आर्धार देवो, क्रमश पान् (Pan) तथा फाउनुस (Faunous) से सम्बद्ध करते है।

मार्गों को ज्ञाता होने के कारण पूषा पशुओ के पीछे-पीछे चलकर उनकी रक्षा करने है (पूषा गा अन्वेतु न· पूषा रक्षतु अर्वतः, 6.54.5)। वे उन्हे गढ्ढे में गिरने से बचाते हैं, उनकी शरीर को क्षत-विक्षत नहीं होने देते, उन्हे इधर-उधर भटकने से रोकते हैं और सुरक्षित घर ले आते है (मार्किनेशन् मार्कीरिषन् मार्का स शरि के वटे। अथारिष्टाभिरागहि, 6.54 7)। खोए हुए पशु को पुन· घर लौटाने के लिए ऋग्वेद मे पूषा से प्राय· प्रार्थना की गयी है (पुनर्नो नष्ट भाजतु, 6 54.10)। उनका चाबुक पशुओ को सीधे मार्ग पर ले जाता है (या ते अष्ट्रा गो ओपशाघृणे पशुसाधनी 6.53.9)। शांखा. गृ. सू. 3.9 1 में बाडे से गायों को भाग जाने या खो जाने पर पूषा की स्तुति करने का विधान किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी पूजन का पशुओं से यह सम्बन्ध पूर्णत· सुरक्षित है।

पूषन् के लिए प्राय· ऋग्वेद में ऐसे विशेषण प्रयुक्त हुए है जो वरुण, रुद्र आदि महान् देवों से सम्बद्ध हैं यथा - असुर या शक्र (शक्तिशाली 5.51.11, 84/15) ईशान (स्वामी, 6. 54.8) त्वेष (पराक्रमी अथवा भयानक 6.48.15) तथा क्षयद्वीर (वीरो के शासक 1.10.64)। उनके रक्षितृत्व पर विशेष बल दिया गया है और उन्हे रक्षिता, प्रायः (1.89.5), गोपा(10.17.3) तथा अविता (8.4.18) कहा गया है। वे पुष्टि के सखा (10.26.7), अन्न के स्वामी तथा उदारचेता (इलस्पति, मघवा, 6.58.4) हैं।

ऋग्वेद मे पूषन की शारीरिक विशेषताओं का भी उल्लेख हुआ है। रुद्र की भाँति वे भी कपर्द (बालो का जूड़ा) धारण करते है। (कपर्दिनम् 6.55.2)। उनके दाढ़ी एव मूँछे भी है (10. 26.7)। वे अपने हाथ मे सोने की बर्छी (वाशी 1.42.6), अंकुश या चाबुक (अष्ट्रा 6.53.9)

तथा आरा (6.53.5) रखते हैं। उनके रथ मे बकरे जुते रहते है। पूषन् एक अत्यन्त कुशल सारथी है। उन्हे रथीतम कहा गया है (6.56.2,3)। वे दही तथा ऑटे का बना हुआ पुआ या करम्भ खाते है (1.13.8.4)।

शुक्ल यजुर्वेद मे पूषा की मात्र चार विशेषताओ का ही उल्लेख मिलता है। अश्विनौ के बाहुओ के समान ही पूषा के हस्त भी यहॉ विशेष प्रसिद्ध है और यजमान वस्तुओं को ग्रहण करते समय ". . . . .पूष्णोर्हस्ताभ्यामाददे" अवश्य कहता है। पूषा मार्ग के रक्षक है (पूषा अध्वनस्पातु 4/19)। वे पशुओं के अधिपति हैं (पूष्णा पशुभि. 10/26) उन्हें सर्वज्ञ (विश्ववेदाः 25/19) एवं रक्षक कहा गया है।

अथर्ववेद में पूषन् का उल्लेख लगभग 30 बार हुआ है। यहॉ वे मुख्यत पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढाने वाले तथा मनुष्यों एवं पशुओं को समृद्ध करने वाले देवता के रूप मे चित्रित होते हैं। वे खोयी हुई वस्तु को पुन. प्राप्त कराते है (पुनेर्नोनष्टामाजतु सं नष्टेन गमेमहि, अ0 वे0 7. 9.4) । अथर्ववेद 5.28.3 में उन्हें अन्न और पशुओं को प्रदान करने मे विशेष समर्थ बताया गया है। मार्गों के अधिपति होने के कारण 6.67.1 मे आए एक मंत्र मे पूषा की इसलिए स्तुति की गयी है कि वे शत्रुओं के सब मार्ग बन्द कर दें जिससे वे घिर जाएॅ। अथर्ववेद 18.2.53 में अन्त्येष्टि क्रिया के समय पूषन् से मृतक को स्वर्ग के मार्ग से ले जाने की प्रार्थना है। गर्भिणी स्त्री के कष्टरहित प्रसव हेतु पूषा का आह्वान किये जाने का उल्लेख भी अथर्ववेद-1/11/1) मे प्राप्त होता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों मे पूषन् की लगभग वे ही विशेषताएँ संक्षेप में प्राप्त होती है जो ऋग्वेद मे उल्लिखित है। यथा- श0ब्रा0 5.2.5.7 तथा 5.3.1.9 आदि में पशुओ को पूषा से सम्बन्धित बताया गया है। (पौष्णा. पशव)। 5.2.5.7 में पूषा को पशुओं का उत्पादक देव कहा गया है (प्रजनन वै पूषा)। शत0 ब्राह्मण 3.1.4.9 मे पुन: स शब्द प्राप्त होते है (पशवो वै पूषा। पुष्टिर्वै पूषा पुष्टिर्वै पशव । तै0 स0 1/5/1 मे भी पूषा को पशुओं का अधिपति कहा गया है। शत0 ब्रा0 1.1.2.17 में पूषा के लिए 'भागदुघ.' विशेषण आया है (भागं दोग्धीति भागदुघ. भागप्रद. इत्यर्थः - सायण)।

सर्वत्र पुष् धातु से ही पूषन् की सिद्धि की गयी है। "पुष्टि वै पूषा" इसका प्रमाण है। पुष्टि से इसी सम्बन्ध के कारण एक स्थान पर वायु को (14.2.1.9) तथा एक स्थान पर पृथ्वी को (4.5.9.6) पूषा बताया गया है। महीधर महोदय का मत है कि पोषणकारी वृष्टि का प्रेरक होने के कारण वायु पूषा है और सायण ने पृथ्वी के विषय मे लिखा है - पोषणात् पृथिवी पूष्णा रक्षितस्य प्रच्युतिर्नास्ति।

तैत्तिरीय संहिता में (5.1.2) में पूषा को मार्गों का स्वामी या सही मार्ग पर ले जाने वाला कहा गया है (पूषा वा अध्वनां सन्नेता) और तै0 सं0 (2/1/1) में कथन है कि वे शक्ति तथा बल प्रदान करते हैं (पूषावा इन्द्रियस्य वीर्यस्य अनुप्रदाता)।

पशुओ पर पूषा का आधिपत्य सूचित करने हेतु तै0 सं0 (2.4.4) मे एक छोटी सी कथा आती है कि एक बार प्रजापति ने पशु उत्पन्न किए किन्तु वे उनके दूर चले गये तब प्रजापति ने पूषा को हवि प्रदान करके उन्हे प्राप्त किया क्योंकि पूषा पशुओ के स्वामी है .-

"......प्रजापतिः पशूनसृजत्। वे अस्मात् सृष्टा. पराञ्च आयन्।..तान् पूषा चान्ववेता ् मो अब्रवीत्। अनया मा प्रतिष्ठ। अथ त्वा पशव उपावर्त्स्यन्तीति.. .ततो वै प्रजापतिं पशव उपावर्त्तन्त।"

शतपथ ब्राह्मण मे पूषा के निमित्त करम्भ प्रदान करने का विधान है। ऋग्वेद में ही पूषा का यह प्रिय खाद्य पदार्थ है। शतपथ ब्रा0 4.2.5.22 मे करम्भ प्रदान करने का विधान बनाया गया है। कौषी0 ब्रा0 6/13 तथा तै0 स0 2.6.8 में इसकी व्याख्या में एक कथा कही गयी है। देवों ने मृगरूपी प्रजापति का रुद्र के बाण से विद्ध अंश पूषा को खाने को दिया किन्तु उसे खाते ही उनके दॉत टूट गए। इसी से उन्हे पिसा अन्न खाने को देते हैं।

ते होचुः पूष्णा एनत् परिहरेति। तत् पूष्णो पर्याजह्नु. तत् पूषा प्राश, तस्य दतो निर्जघान। तस्मादाहुः अदन्तक पूषेति।

तस्माद्यं पूष्णो चरु कुर्वन्ति प्रपिष्टानाम् (तण्डुलग्नामिति शेषः - हरस्वामी) एव कुर्वन्ति यथा अदन्तकाय एवम्। (शतपथ ब्रा0 1.7.4.7)

सूर्य से सम्बद्ध होने के कारण ईशावास्योपनिषद् मे पूषा ने अत्यधिक उत्कर्ष प्राप्त किया है। ईशावास्य के कुछ मत्रों में सूर्य की परमात्मा के रूप मे धारणा की गयी है। अत पूषा शब्द सर्वपोषक ब्रह्म का वाचक बन गया है। 15वे श्लोक में कवि कहता है कि 'सत्य का मुख हिरण्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन् सत्यरूपी धर्म को देखने के लिए तुम उसे हटा दो।'

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।

तत्त्व पूषन् अपावृणु सत्यधर्मस्य दृष्टये।।" (ईश0 उ0 15)

गृह्यसूत्रो में भी पूषा के सम्वन्ध मे प्राय उन्हीं विशेषनाओं का उल्लेख है जो ब्राह्मण ग्रन्थों में प्राप्त होती है। आश्व0 गृ0 सू0 3.8.10 मे भयपूर्ण मार्ग में चलने मे पूर्व पूषा की स्तुति करने का विधान है। किसी भी कार्य से दूर जाने वाले व्यक्ति पहले पूषा की कृपा की कामना करते हैं। (उदा0 - काठक, गृ0 मृ0 2-11.4)। पूषा को वैवाहिक सुख का प्रदाता भी कहा गया है। विवाह सस्कार के अवसर पर पूषा को विशेष रूप से लाजा (खीले) प्रदान की जाती हैं (गोभिल 2.2.7 तथा द्राह्यायण 1.3.25)। हिरण्यकेशी 1 6.20.2 तथा काठक 3 1.5 में विवाह के अनन्तर वर वधू से कहता है कि पूषा तुम्हें हाथ पकडकर घर ले चले और गृहलक्ष्मी के रूप में तुम घर मे आनन्द से रहो। (पूषा त्वेता नयतु हस्तगृह्य. ....गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथा सो वशिनी त्वा विदथमावदाति)। गोभिल 2.2-16 तथा हिरण्य केशी 2.1.5.11 मे बालक के चूड़ाकर्म के अवसर पर भी पूषा का आह्वान किया गया है और उनसे बालक को दीर्घायु बनाने की प्रार्थना की गयी है। शांखा0 गृ0 सू0 1.9.9 मे प्रात.काल अग्निहोम के समय पूषा के लिए हवि प्रदान करते हुए यजमान कहता है कि “पूषा पशुओं एवं धन के स्वामी है। वे हमें इन दोनों से युक्त करें”। यजुर्वेद में उल्लिखित पूषन् के हस्तों का प्राय. गृह्यसूत्रों मे भी वर्णन आया है (पूष्णोर्हस्ताभ्यां हस्त गृहणामि असौ..... गोभिल 02.10.26)। गोभिल गृह्य सूत्र 2.7.10, 13 में पशुओं की मार्ग में रक्षा करने के लिए भी प्राय. गृह्य सूत्रों में विविध ऋग्वैदिक मत्रों के पाठ का विधान किया गया है।

महाकाव्यों, पुराणों में भी पूषा का केवल नाम मात्र शेष रह गया है। उनके स्वरूप का विकास उलटी दिशा में चला है। उत्तरोत्तर उनकी महत्ता का ह्रास ही होता गया है। ऋग्वेद मे

उनका व्यक्तित्व सर्वाधिक पूर्ण है किन्तु पुराणों मे अत्यधिक अस्पष्ट एवं अपूर्ण है। रामायण मे तो एक स्थान पर ही उनका उल्लेख मिलता है। रावण के साथ जब सभी देवता युद्ध करने आते है तो पूषा भी त्वष्टा के साथ अपनी सेना लेकर आते है। उन्हे 'आदित्य', 'निर्भय' तथा 'महावीर्य' कहा गया है -

"तथादित्यो महावीर्यो त्वष्टा पूषा च दशितौ।

निर्भयौ सह सैन्येन तदा प्राविशतां रणे।।" (रामा0 उ0 27.26)

वस्तुत. पूषा का उल्लेख उन्हीं स्थानों पर किया गया है जहॉ देवों के किसी सामूहिक कार्य का वर्णन है और इसीलिए अन्य देवो के नामो की सूची के साथ-साथ इस प्राचीन वैदिक देवता के नाम का उल्लेख करना आवश्यक हो गया है। यथा - महाभारत आदि0 226-67 में वे खाण्डव दाह के अवसर पर अन्य सभी देवो के साथ अर्जुन से युद्ध करते है और शल्य प0 45-43, 44 में जब सभी देवता स्कन्द को वर प्रदान करते है तो वे भी उसे दो पार्षद प्रदान करते है।

पूषा का केवल एक ही पौराणिक कथा से सम्बन्ध है और वह है रुद्र के द्वारा दक्ष-याग के विध्वंस की। इस कथा मे पूषा को रुद्र का विरोधी प्रदर्शित किया गया है अत. रुद्र के गणेश्वर वीरभद्र उन्हें गिराकर उनके दॉत उखाड़ लेते है:-

"स वै विध्वसितं यज्ञ दृष्ट्वा पूषा समभ्यगात्।

पूष्णो दन्तान् अथोत्पाट्य वीरभद्रोन्यपातयत्।।" (ब्रह्म0 109.25)

श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि वीरभद्र ने पूषा के दाँत इसलिए निकाले कि जब दक्ष शिव की निन्दा कर रहा था तो वे दाँत निकालकर हँस दिये थे -

"पूष्णश्चापातयत् दन्तान् कालिंगस्य यथा बलः।
शप्यमाने गरिमणि सोऽहसद् दर्शयन् दत ।।" (भाग0 4.6.21)

महा0 द्रो0 पर्व 202-49 तथा सौप्तिक प0, 18.16 में भी शिव द्वारा पूषा के दाँत तोड़े जाने का वर्णन मिलता है। अब वे यजमान के दाँतों से केवल पिसा हुआ अन्न खाते है। (पूषा तु यजमानस्य दद्भिर्जक्षतु पिष्टभुक् - भाग0 4.7.4)।

स्पष्ट है कि यह शत0 ब्राह्मण 1.7.4.7 मे उल्लिखित प्रसग का ही परवर्ती विकास है जिसके अनुसार प्राशित्र खाने से पूषा के दाँत गिर गये थे और ऋग्वेद 1.38.4 में करम्भ पूषा का प्रिय भोजन है ही।

परिपूषा पुरस्ताद् हस्तं दधातु दक्षिणम्। (अथर्व0 7.9.4)
पूषा हमारे ऊपर अपना दायाँ हाथ (कृपादृष्टि) रखें।
पूषेमा आशा अनु वेद सर्वा । (अथर्व0 7 9.2)
पूषा इन सब दिशाओं को यथावत् जानता है।

■

उपसंहार

अध्याय - षष्ठ

उपंसहार

वेद क्रान्तद्रष्टा ऋषियो का रिक्थ है।

"मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" मत्र एव ब्राह्मण ही वेद है। वैदिक वाड्मय- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वेदाड्ग ही वेद हैं। वैदिक वाड्मय- संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्, वेदाड्ग-शिक्षा,कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द और ज्योतिप से समन्वित हैं। वेद स्वतः आविर्भूत होने वाले नित्य पदार्थ एवम् अपौरुषेय है। वेद का नित्यत्व स्वयंसिद्ध है। आचार्य सायण के अनुसार 'वेद इप्टप्राप्ति और अनिष्ट निवारण का अलौकिक उपाय बताने वाला ग्रन्थ है'। वेद-विज्ञान गूढतम रहस्यो का विज्ञान है। मनुस्मृति मे वेद को देव,पितर, मनुष्य-सबका मार्गदर्शक बताया गया हैः-

"पितृदेव मनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।

अशक्यं चाप्रमेयञ्च वेदशास्त्रमिति स्थिति.।। (मनु0 - 12/94)।

भारत धर्मप्राण देश है। प्रत्येक समीपस्थ उपकारक तत्त्वों के प्रति आस्था केवल भारतीय ऋषिगण में विद्यमान थी। उन्होंनें अग्नि, वरुण, मरुत् आदि के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की तथा उन्हें साक्षात् देवरूप में ही देखा। देवों ने भी प्रसन्न होकर उन्हे दर्शन

दिए। इन सभी देवों का विभाजन हमे कई रूपों मे उपलब्ध होता हैं स्थान के आधार पर - द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय, पृथिवीस्थानीय - यह देवविभाजन है।

आदित्य द्युस्थानीय देव हैं तथा ये गण देवता के अन्तर्गत भी आते हैं। आदित्यों का अपना एक गण है जिसमे ये अपने मूलरूप से कुछ-कुछ विशिष्ट एवं भिन्न-भिन्न रूप में मिलते हैं। आदित्यगण देवमाता अदिति के पुत्र है। सम्पूर्ण वेद में कहीं 6 कहीं 7 और कहीं 8 अदित्यो का उल्लेख है। शतपथ ब्राह्मण में 12 आदित्यों का वर्णन मिलता है। कालान्तर में इन बारह आदित्यो को ही वर्ष के 12 महीनों के प्रतिनिधि के रूप मे स्वीकार कर लिया गया।

प0 क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय जी ने अपने एक व्याख्यान में आदित्यों की संख्या 12 स्वीकार की है -

1. धाता, 2. अर्यमा 3. मित्र, 4. वरुण, 5. इन्द्र, 6. विवस्वान्, 7. पूषा,
8.पर्जन्य, 9. अंशुमान्, 10. भग, 11. त्वष्टा और 12. विष्णु।

इन 12 आदित्यों को क्रमशः चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद, आश्विन, कार्तिक, मार्गशीर्ष, पौष, माघ और फाल्गुन मास में द्युतिमान होने वाले आदित्य (सूर्य) के रूप में कहा गया है।

सूर्य (आदित्य) सू गतौ अथवा षू प्रेरणे धातु से क्यप् प्रत्यय से निष्पन्न है। आचार्य सायण के अनुसार -

"सरति गच्छति वा सुवति प्रेरयति वा तत्तद् व्यापारेषु कृत्स्नं जगदिति सूर्यः। यद्वा सुष्ठु ईर्यते प्रकाशप्रवर्षणादि व्यापारेणु प्रेर्यते इति सूर्यः।"

(ऋग्वेद-9/114/3 का सा0 भा0)

आदित्य (सूर्य) वस्तुत· अखिल विश्व को प्रकाश देने वाला एव एक अनन्त तेज का भण्डार है। यही आकाश में निराधार गमन करके सबको स्व-स्व कर्म में संयोजित करते हुए ऊर्जा प्रदान करते है।

सूर्यदेव (आदित्य) तीनों लोको के कर्ता एव धाता (भर्ता) हैं। ये जड-चेतन जगत् की आत्मा एवं उसके रक्षक हैं। ये दूरद्रष्टा, सर्वद्रष्टा एव सर्वेक्षक हैं। ये मानव जाति के उद्बोधक के रूप में उदित होते हैं। ये आदित्य ऋग्वेद आदि में 8 परिगणित हैं - जिनमें मित्र, वरुण, अर्यमा, अंश, भग, धाता, इन्द्र, विवस्वत हैं।

1. **मित्र** :- ऋग्वेद में मित्र देवता का स्वतत्र उल्लेख बहुत कम है। वरुण के साथ मिलाकर मित्रावरुणा (णौ) नाम से उनका प्राय· वर्णन हुआ है। केवल एक ही सूक्त उनके लिये प्राप्त होता है। मित्र की दो-तीन विशेषताओं का ही वर्णन मिलता है। मित्र अपने आदेश से (अथवा स्तुत होने पर) मनुष्यों का अपने कर्मों मे प्रेरित करते है और निर्निमेष दृष्टि से मनुष्यों को देखते हैं :-

मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम्।

मित्रः कृष्टीरनिमिषाभि चष्टे मित्राय हव्य घृतवज्जुहोत। (ऋ0 3.59.1)

पृथ्वी और आकाश को धारण करने की विशेषता तो लगभग सभी देवो मे समान है परन्तु 'यातयज्जन' मित्र की अपनी एक विशेष उपाधि है। (यातयज्जनो गृणते सुशेव 3/59/5)।

वस्तुतः रॉथ तथा मैक्डॉनेल आदि विद्वानों ने 'यातयति' का अर्थ है 'एक स्थान पर एकत्र करना' इसकी पुष्टि में वे 'मित्रो यतति ब्रुवाण·' 7/36/2 आदि मंत्र उद्धृत किये हैं। सायण ने इसे यत् (प्रयत्न करना) का णिनन्त रूप माना है। जो सवसे अधिक उपयुक्त है। कृष्टि शब्द भी मनुष्य मात्र का वाची है- किसानो या हल जोतने वालों का नहीं । इस सम्बन्ध में यास्क का मत ही सर्वाधिक उपयुक्त है -

कृष्टीः इति मनुष्यणाम् विकृष्टदेहा भवन्ति।

मित्र देवों में सर्वाधिक मंगलमय हैं।

2. **वरुण** .- इन्द्र के साथ-साथ वरुण भी ऋग्वेद के महत्तम देवों में से एक है। वरुण नैतिक दृष्टि से अति उन्नत देव है।

वे एक परमशक्तिशाली, निश्चित नियमों के पालन करने और करवाने वाले बुद्धिमान् सम्राट् हैं और सभी देवता उनके व्रतों (नियमों) का पालन करते हैं। 'वरुणो वृणोतीति सतः' (निरुक्त 10/4) - सबको आच्छादित कर लेने के कारण उन्हें वरुण कहते हैं। वरुण सर्वदर्शी, सर्वज्ञ एवं मनुष्य की प्रत्येक क्रिया पर दृष्टि रखने वाले दैवी शासक हैं। ऐतरेय ब्राह्मण 4/2/4 मे कहा गया है (अहर्वै मित्रो रात्रिर्वरुण उभे वा

एषोहोरात्रे) मित्र दिन है और वरुण रात्रि। वैदिक देवमण्डल मे केवल वरुण के लिये ही मुख्यरूप से राजा या सम्राट शब्द का प्रयोग हुआ है। वरुण समस्त प्राणियो का राजा है, चाहे वे देवता हों, चाहे असुर या मनुष्य (त्व विश्वेपा वरुणासि राजा ये च देवाः असुरा ये च मर्त्या·)। वरुण के नियम पूर्णतः स्थिर एवम् अनतिक्रम्य हैं। इसलिए वरुण के लिये प्रायः धृतव्रत विशेषण का प्रयोग हैं

वरुण प्रकृति के नियम ऋत् के पोपक तथा रक्षक है। देवता तक मित्र और वरुण के बनाये गये नियमों का पालन करते है और उनको तोडने का साहस नहीं कर सकते। नैतिकता तथा सत्कर्मों के सर्वोत्कृष्ट परिपालक होने के कारण वरुण पापियों को विशेषतः असत्य वक्ताओं को कड़ा दण्ड देते है।

3. **अर्यमा** :- आदित्यों के प्रसंग मे अर्यमा देवता का बहुत कम उल्लेख प्राप्त होता हैं अर्यमा शब्द का अर्थ है मित्र या साथी। 'नार्यमण पुष्यन्ति नो सखायं कैवलाघो भवति केवलादी'- अपने परिचर के साथ भोजन का उपदेश है। अर्यमा शब्द से वना अर्यम्य शब्द मित्र शब्द से बनी भाववाचक संज्ञा 'मित्र्य' के समान है और मैत्री का अर्थ रखता है (अर्यम्यं वरुणमित्र्यं वा सरवायं वा सदमिद् भ्रातरं वा, ऋ0 5/85/3)।

अर्यमा पारस्पिरिक सौहार्द्र से सम्बन्धित कोई अमूर्त देवता हैं। जर्मन विद्वान् पाउथ थीमे ने Der Fremdling in Rgveda नामक अपने ग्रन्थ में अर्यमा को मूलतः अरि अर्थात् अतिथि, अभ्यागत से सम्बद्ध देवता बताया है और आर्य शब्द को इससे

सम्बन्धित माना है। ब्राह्मण ग्रन्थों में सूर्य के रूप में अर्यमा का उल्लेख मिलता है। अर्यमा और सूर्य का पूर्ण तादात्म्य तैत्ति0 सं0 2/3/4 तथा शतपथ ब्राह्मण 5/3/1/2 में प्राप्त होता हैं। तैत्तिरीय सं0 के इस उद्धरण में 3 बार अर्यमा को आदित्य बताया गया है। पुराणो मे अर्यमा पितरों के अधिपति के रूप में माने गये हैं पितरो के अधिपति होने के कारण पृथिवी दोहन के समय श्राद्ध देवता पितर अर्यमा को बछडा बनाकर मिट्टी के पात्र में कव्य रूपी दूध दुहते हैं। महाभा0 आदि0 65/15, शान्ति0 208/15 आदि मे अर्यमा का द्वादश आदित्यो में परिगणित किया गया है।

4. **भग** :- ऋग्वेद के एक सूक्त मे (7.41 मे) भग की प्रशंसा मिलती है। यद्यपि इसी मे कुछ अन्य देवों का भी आह्वान किया गया है। इस देव का नाम लगभग, 60 बार आया है। इस शब्द का अर्थ 'प्रदान करने वाला' है। वैदिक सूक्तों मे इस देव को नियमित रूप से सम्पत्ति वितरक के रूप मे कल्पना की गयी है। सामान्य रूप से इन्द्र तथा अग्नि के वैभव की अभिवृद्धि के उद्देश्य से ही इन लोगों की 'भग' के साथ तुलना की गयी है। ऋग्वेद मे भग शब्द प्रायः बीस बार 'वैभव, सम्पत्ति, सौभाग्य के आशय में भी आया है, यदा-कदा इस अर्थ का कुशलता के साथ प्रयोग किया गया है। एक स्थल पर (7.41.2) में भग को वितरक (विभर्ता) कहा गया है। मनुष्यगण इस देव के सम्बन्ध मे इस प्रकार कहते सुने जाते हैं - "हमें भग का भाग मिले" (भगम् मक्षि)। एक अन्य

मंत्र में (5.46-9) मे जिसमे इसे प्रदान करने वाले (विभक्त भज् धातु से व्युत्पन्न) कहा गया है, इसका अपने उपासकों को सम्पत्ति से परिपूर्ण करने के लिए आह्वान किया गया है। यास्क महोदय ने भग को पूर्वाह्न के अधिपति के रूप में वर्णन किया है। इस नाम का ईरानी रूप वध (देव) है जो अहुर मज्दा की एक उपाधि के रूप मे आता है। गिरजा स्लेवेनिको मे 'देवो' के आशय मे 'वोगु' के रूप मे प्रचलित है। वस्तुत 'भग' ऐश्वर्य प्रदाता के नाम से सबके लिये पूज्य और स्तुत्य हैं। तैत्तिरीय0 3/1/9/8 मे भग को भाग्यप्रदाता देव के रूप मे स्थापित किया गया है।

5- **अंश** :- अंश शब्द ऋग्वेद मे एक दर्जन से कम बार ही प्रयुक्त होता हैं 'भागाश' तथा 'भागांशदाता' जैसे दोनों ही स्थूल आशयो को व्यक्त करता हुआ प्रायः 'भग' का समानार्थी सा ही है। यह सभवतः 'अशुमान्' का सूक्ष्म रूप है। अंशु का अर्थ है किरण। सूर्य मे 'शुचि' नामक अग्नि तपती है। सूर्य की प्रभा सूर्य के अस्त हो जाने पर रात्रि मे अपने चतुर्थ अंश से अग्नि में प्रवेश करती है। इस कारण रात्रि में अग्नि प्रकाशयुक्त हो जाती है। प्रातःकाल सूर्य के उदित होने पर अग्नि की उष्णता अपने तेज के चतुर्थ अंश से सूर्य में प्रवेश कर लेती है। इसी कारण दिन में सूर्य तपता है। सूर्य और अग्नि के प्रकाश, उष्णता, और तेज इन सभी के परस्पर प्रविष्ट होने के कारण दिन और रात्रि की शोभावृद्धि होती है।

तपता हुआ सूर्य अपनी किरणो (अंशुओं) से जल का पान करता है। सूर्य में निवास करने वाली यह अग्नि सहस्र किरणो वाली तथा रक्तकुम्भ के समान लाल वर्ण की है। यह चारो ओर से सहस्र नाडियों से नदी, समुद्र, तालाब, कुआँ आदि के जलो को ग्रहण करती है। इन्हीं सहस्र किरणो से शीत, वर्षा और उष्णता का निःस्रवण होता है। यह केवल तीन बार एकदेवता के रूप में प्रयुक्त होता है।

6- **दक्ष** :- लगभग 6 बार 'दक्ष' एक देव के रूप में ऋग्वेद में उल्लिखित हैं। यह शब्द अधिकतर 'कुशल, शक्तिशाली, चतुर, बुद्धिमान् आदि अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। दक्षता, बल, चतुरता, समझ आशयो से युक्त होने के कारण यह सत्तावाचक के रूप में वर्णित है। ऋग्वेद 2.27.6 के अतिरिक्त छः आदित्यो की गणना मे प्रथम और दशम मण्डलों में इनका उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर 1.89.3 में वरुण, मित्र और अर्यमा के साथ इनका वर्णन प्राप्त होता है। 10.64.5 मे भी मित्र, वरुण और अर्यमा के साथ इनकी चर्चा हुयी है। 10.72.4-5 में दक्ष को अदिति से उत्पन्न कहा गया है। कहीं-कही तो अदिति की उत्पत्ति दक्ष से बतायी जाती है। "आदित्यों को ऐसे देव जो अपने पिता के लिए बुद्धिसम्पन्न हैं के रूप में चित्रित किया गया है। साधारण रूप से यज्ञकर्ताओं को 'दक्षपितरः' - अपने पिता के लिए कुशलता से युक्त-कहा गया है। तैत्तिरीय संहिता में सामान्यतया देव जाति को 'दक्षपितरः' कहा गया है और शतपथ ब्राह्मण में तो 'दक्ष' को 'विधाता' प्रजापति के साथ सम्बद्ध बताया गया है।

7- विवस्वान् :- भगवान् विवस्वान् का कोई भी सूक्त हमें कहीं नहीं मिलता है किन्तु इनका उललेख आदित्यगण में हुआ है। इनका नाम ऋग्वेद में 30 बार प्रयुक्त हुआ है। यह परम तेजस्वी स्वरूप वाले है। इनकी पत्नी सरण्यू हैं जो त्वष्टा की पुत्री हैं। विवस्वान् को आदिपूर्वज मनु का पिता कहा गया है। इस प्रकार यह ही सृष्टि के आदिजनक है। शतपथ ब्राह्मण मे वर्णित है:-

'स विवस्वान् आदित्यः तस्यचेमाः प्रजाः'

ऋग्वेद में 10/6/3/1 में देवो तक को विवस्वान् का पुत्र बताया गया है। सूर्य देव के आधिदैविक स्वरूप का प्रतिनिधित्व विवस्वान् करते है। सृष्टि के आदि पुरुष अथवा चेतन प्राणी के रूप में ही विवस्वान् को प्रथम यज्ञकर्ता तथा सोमाभिषविता माना गया है। सूर्य के दैवी रूप का वर्णन विवस्वान् के ही रूप में हुआ है। सूर्य को ही विवस्वान् कहते हैं क्योंकि वह दिन एवं रात्रि को प्रकाशित या विभाजित करते हैं -

'असौ वा आदित्यो विवस्वान्। एष हि अहोरात्रे विवस्ते।।'

8- पूषा :- पूषा देव समृद्धि के देवता हैं। यह संज्ञा पुष् से निष्पन्न है। जिसका तात्पर्य है पोषक अथवा पुष्ट करने वाला। वे अत्यधिक धन के स्वामी हैं। पुरुवसु और पुष्टिम्भर आदि उनके विशेषण हैं। उनका सम्बन्ध सूर्य देव से सर्वत्र बताया गया है। ऋग्वेद के 8 सूक्तों में इनका वर्णन है तथा 120 बार इनका नाम प्रयुक्त है। इन्हें 'असुर' कहा गया है। इनको बलवान्, सामर्थ्यवान्, क्षिप्र, शक्तिशाली, अप्रतिकार्य भी

बताया गया है। यह संसार के रक्षक एवं योद्धाओं के शासक और धन-धान्य से सम्पन्न हैं। यह समृद्धि के परम मित्र और पोषक तत्त्वों की वृद्धि के शक्तिशाली अधिपति हैं। पूषा देव मार्ग के अधिपति देव हैं। इसी कारण उनसे मार्ग के विघ्नों, वृकों, दस्युओं को दूर करने की प्रार्थना की गई है। पशुओं के पीछे-पीछे चलकर वे उनकी रक्षा करते हैं:-

"पूषा गा अन्वेतु नः पूषा रक्षतु अर्वतः"

पूषा को वैवाहिक सुखप्रदाता देव कहा गया है। विवाह के अवसर पर पूषा का विशेष आह्वान एवं पूजन होता है। वे अन्न एवं पशुओं को प्रदान करने की विशेष सामर्थ्य से युक्त हैं।

9- **इन्द्र** :- इन्द्र, देवों में प्रमुख तथा तत्कालीन राष्ट्रीय देवता थे। इनकी प्रख्याति 250 सूक्तों में है जो अन्य देवों की अपेक्षा सर्वाधिक है। यह अन्तरिक्ष स्थानीय देव हैं इनका परिगणन आदित्यों में किया गया है। यह सर्वाधिक रूप सम्पन एवं सूर्य की अरुणिम आभा के धारक हैं। यह हाथ मे वज्र धारण किए रहते हैं। यह बहुत पराक्रमी हैं तथा इन्होनें राक्षसों के चंगुल से जलो को मुक्त कराया। यह धनुष एवं बाण को भी धारण किए रहते हैं। सबको गतिशील बनाने वाले सूर्य देव को भी यह ही गतिशील बनाते हैं।

मेरी सम्मति में तो विराट् पुरूष के नेत्र से आदित्य उत्पन्न हुए। भुवनभास्कर भगवान् सूर्य 'नारायण' ही हैं। इन्हीं से सांसारिक सृष्टि चक्र प्रवर्तित है। इन्हीं से मनुष्य उत्पन्न हुए हैं; इन्हीं से कृषि, फूल-फल, वनस्पति-ओषधि और अन्न होता है। यदि सूर्य न हों तो

सांसारिक सृष्टि चक्र चल ही नहीं सकता। इन्हीं सूर्यदेव से समस्त जड़ चेतन जगत् को जीवनी शक्ति और प्राणशक्ति प्राप्त होती है। अतः सूर्य को प्राणिमात्र का 'प्राण' कहा गया है। यही ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं तथा त्रिमूर्त्यात्मक और त्रिवेदात्मक हैं। सूर्य में समस्त देवताओ का निवास माना गया है। यही रुद्र, विष्णु, प्रजापति, अग्नि, सूक्ष्म, मन, प्रभु और वेद हैं।

आदित्य (सूर्य) प्रत्यक्ष देव हैं। ये प्रतिदिन प्रात:काल मे उदित होते हैं और सायंकाल में अस्त होकर संसार के सम्मुख अपना देवत्व प्रकट करते हैं। सूर्य के प्रत्यक्ष देवत्व को आस्तिक-नास्तिक सभी प्रकार के मनुष्य सहर्ष स्वीकार करते हैं। देवों मे भगवान् सूर्य श्रेष्ठ और सर्वाधिक उपकारक हैं। ये प्रतिदिन अपनी ऊष्मा तथा प्रकाश समस्त संसार को प्रदान करते हैं जिससे मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे वलिष्ठ और सुरक्षित रहते हैं। इसीलिए सूर्य को समस्त प्राणियों का जीवन कहा गया है।

यदि हम सूर्य के नामो की वैज्ञानिकता से परिचित होना चाहते हैं तो सर्वप्रथम चैत्र मास के 'धाता' का तात्पर्य समझे- धाता कहते है। निर्माता, संग्राहक, समर्थक, प्राण, ब्रह्मा, और विष्णु को। उक्त सभी नामों की विशेषताएँ सूर्य मे सन्निहित है। वे निर्माता भी हैं और रसों के संग्राहक भी। ऑक्सीजन के अधिष्ठान होने के कारण प्राणभूत भी हैं और धान्य में रसोत्पादक होने के कारण समर्थक तथा प्राणरक्षक होने के कारण विष्णु भी हैं।

वैशाख के सूर्य का नाम अर्यमा है। अर्यमा पितृश्रेष्ठ को कहते हैं - 'पितृणाम् अर्यमा चास्मि।' अर्क (आक) के पौधे को जिस प्रकार पितृगण अपने वंशजों के उपकार से समृद्ध रखते है, उसी प्रकार सूर्य भी अर्क वृक्ष की भाँति सदा हरे-भरे रहने की प्रेरणा देते हैं, अतः यह नाम भी अन्वर्थक है।

ज्येष्ठ के सूर्य हैं-मित्र। मित्र कहते हैं- वरुण के सहयोगी आदित्य को, राजा के पड़ोसी तथा सुहृद को। सूर्य वर्षा ऋतु के मित्र और पड़ोसी हैं अर्थात् आषाढ़ में वर्षा होने से सूर्य अपने प्रभाव से भूमण्डल को तपाकर वर्षागमन की पृष्ठभूमि तैयार करके एक सहृद की भाँति भूमण्डल का हितसाधन करते हुये वरुण के सहयोगी आदित्य तथा मित्र दोनों ही नामों को सार्थक बनाते हैं।

आषाढ़ के सूर्य का नाम है - वरुण। वरुण को 'अपाम्पति' कहा गया है जिसका अर्थ है - जल के स्वामी। भगवान् कृष्ण ने इन्हें अपना स्वरूप बताते हुए भगवद्गीता में कहा है - 'वरुणो यादसामहम्' (10/29)। इसके अतिरिक्त समुद्र को भी वरुण कहते हैं। आषाढ़ वर्षा ऋतु का मास है। सूर्य समुद्रीय जल का आकर्षण कर वरुण रूप में इसी माह में उसे जन हितार्थ लौटाकर 'आदानं हि विसर्गाय सतां वारिमुचामिव' की उक्ति को सार्थक बनाते हुए अपने मास के अधिष्ठातृ नाम को अन्वर्थक बनाते है।

श्रावण के सूर्य का नाम है - इन्द्र। इन्द्र कहते है- देवाधिप, वर्षाधिप, वर्षाशासक तथा सर्वोत्कृष्ट को। इस मास में सूर्य मेघों का नियत्रणकर आवश्यकतानुसार वर्षा द्वारा पृथिवी

को आप्लावित कर अपनी सर्वोत्कृष्टता तथा शासन पटुता की अमिट छाप जन-मन पर छोडते हैं। अतः यह नाम कितना अन्वर्थक है- इसे सहज ही जाना जा सकता है।

भाद्रपद के सूर्य का नाम है- विवस्वान्। विवस्वान् कहते हैं - वर्तमान मनु, अर्कवृक्ष, और असण आदि को। भाद्रपद की ऊष्मा कितनी उग्र होती है - इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अनेक कृषक इससे व्यथित हो सन्यासी के समान घर त्याग देते है। सूर्य ब्रह्मा की भॉति इस समय धरा पर अपनी तेजस्विता की छाप अङ्कित करने लगते हैं - 'त्वष्टा विवस्वन्तमिवोल्लिलेख' (किरात0) इस प्रकार सूर्य का यह नाम भी अन्वर्थक है।

आश्विन मास के सूर्य का नाम है- पूषा। पूषा का भावार्थ है - पोषक तथा गणक; क्योंकि इस मास के सूर्य धान्य का पोषण भी करते है। अत यह नाम भी अन्वर्थक और उनके मासगत वैशिष्ट्य का परिचायक है - 'सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं कलयति' (नीति. 114)।

कार्तिक के सूर्य का नाम है - पर्जन्य। पर्जन्य कहते है- बरसने वाले अथवा गरजने वाले मेघ को - 'प्रवृद्ध इव पर्जन्यः सारंगैरभिनन्दितः' (लघु0 17-15)। वर्षा तथा इन्द्र को शरद ऋतु में पर्जन्य नाम देना कहॉ तक सत्य है। इस काल मे सूर्य पर्जन्य (मेघ) के रूप मे सृष्टि की पिपासाकुल आत्मा को परितोष देते हुए अपना नाम अन्वर्थक बनाते हैं और

इन्द्र रूप में सूखी सरदी की आर्द्रता से सिञ्चित कर नियंत्रित करते हैं। इनका नाम भी अन्वर्थक है।

मार्गशीर्ष के सूर्य का नाम है - अंश। अंश का अर्थ है - रश्मि, ऊष्मा। अपनी ऊष्मरश्मियों मार्गशीर्ष के प्रखरशीत को अपसारित करने की क्षमता से सम्पन्न सूर्य का यह मासगत नाम भी अन्वर्थक है। पौष के सूर्य का नाम है - भग। भग कहते हैं - सूर्य, चन्द्रमा, शिव, सौभाग्य, प्रसन्नता, यश, सौन्दर्य, प्रेम, गुण, धर्म, प्रयत्न, मोक्ष तथा शक्ति को। पौष के भयङ्कर शीत में सूर्य चन्द्र की भाँति शैत्य बढ़ाकर, शिव की भाँति कल्याणकर, प्रकृति में स्वर्गीय सुषमा की सृष्टिकर, ठिठुरते हुए व्यक्तियों को ऊष्मा प्रदान कर, धार्मिक कृत्यों के सम्पादनार्थ शक्ति देकर तथा शीत से मोक्ष प्रदान कर अपना नाम अन्वर्थक बनाते हैं।

माघ के सूर्य का नाम है - त्वष्टा। त्वष्टा कहते हैं, बढई, निर्माता, विश्वकर्मा, देवशिल्पी को। ये नाम भी सार्थक हैं क्योकि इस मास में प्रकृति के जरा - जर्जरित उपादनों को कुशल शिल्पी की भाँति तराशकर (काट-छाँटकर- खराद्कर) अभिनव रूप प्रदान करते हैं और त्वष्टा की भाँति भूमण्डल को सान पर तराशकर उज्ज्वल रूप देने की दिशा में अग्रसर होने लगते हैं।

फाल्गुन के सूर्य का नाम है - विष्णु। विष्णु का तात्पर्य है - रक्षक, विश्वव्यापक, सर्वत्रानुविष्ट। यह सम्पूर्ण विश्व उन परमात्मा की ही शक्ति से व्याप्त है, अतः वह विष्णु

कहलाते हैं, क्योंकि विश् धातु का अर्थ है प्रवेश करना। इस मास तक पहुॅचते-पहुँचते सूर्य शक्तिसम्पन्न हो शिशिर विजड़ित सृष्टि मे शक्ति संचार करने में समर्थ हो जाते हैं। उनकी उत्पादन शक्ति प्रखर हो उठती है। अग्नि की तेजस्विता उनमें प्रत्यक्ष रूप से अनुभूत होने लगती हैं तथा एक धर्मनिष्ठ की भॉति निजधर्म का तत्परता से पालन करते हुए अपना नाम अन्वर्थक करते हैं। प्रकृति का केन्द्र सूर्य है। प्रकृति की समस्त शक्तियॉ सूर्य द्वारा ही प्राप्त है। आत्मा पर शरीर की भॉति सूर्य की सत्ता पर जगत् की स्थिति है। यदि धारण करने के कारण धरा को माता माना जाय तो पोषण के कारण सूर्य को पिता कहा जा सकता है। शारीरिक रसों का परिपाक सूर्य की ही ऊष्मा से होता है। शारीरिक शक्तियो का विकास, अङ्गों की पुष्टि तथा मलों का शरीर से निस्सरण आदि कार्य सूर्य की महत् शक्ति द्वारा ही सम्पन्न होते हैं।

सूर्य में प्रबल नाशक शक्ति है जिससे कठिन से कठिन रोग स्वयं दूर हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में ग्रामीण अञ्चलो में उन्मुक्त वातावरण में रहने वाले उन ग्रामीणों को लिया जा सकता है जो बिना पौष्टिक आहार के भी स्वस्थ रहते हैं वैसे नगरों में देखने को भी नहीं मिलते। इसके विपरीत सूर्य के दर्शन अनवरत रूप से न मिल पाने के कारण वहाँ के अनेक प्राणी रोगों के शिकार बने रहते हैं। स्त्रियों में पाये जाने वाले रोग आस्ये मलेशिया का कारण भी सूर्य ताप की कमी ही है। सूर्य पूजनादि से दूर रहने के कारण ही महिलाओ मे अधिक रोग पाये जाते हैं।

मेरी दृष्टि में स्वस्थ जीवन के लिए सूर्य की सहायता पूर्णरूपेण अपेक्षित है। इसकी आवश्यकता और महत्ता देखकर ही हमारे ऋषियों और आचार्यों ने सूर्यप्रणाम और सूर्योपासना आदि का विधान किया गया था। सूर्य को रोगनाशक शक्ति के तारतम्य में मुझे तो अथर्ववेद का यह मंत्र बड़ा ही मार्मिक लगता है :-

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव।

सूर्य कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोडपोच्छतु ।। (अथर्व0 6/83/1)

'जिस प्रकार गरुड बस्ती से लौट जाता है, उसी प्रकार अपचनादि व्याधियाँ भी सूर्य पूजन से दूर हो जाती हैं। इसके लिए सूर्य ओषधि बनाएँ और चन्द्रमा अपने प्रकाश से उन व्याधियो का नाश करें।

उक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि सूर्य जड चेतन के अन्तर्यामी प्रसविता हैं। सूर्य उदित होते समय और अस्त होते समय अपनी प्रतप्त किरणों के माध्यम से नानारंग वाले, चार नेत्रों वाले, श्वेत रंग वाले, सारंग वर्ण वाले कृमि को नष्ट कर देते हैं। सूर्य चराचर जगत् की आत्मा, उत्पादक, पालनकर्ता और लय के कारणभूत हैं। सूर्य अपने उपासक को दीर्घायु, आरोग्य, ऐश्वर्य, धन, पशु, मित्र, पुत्र, स्त्री, विविध प्रकार के उन्नति के व्यापक क्षेत्र, स्वर्ग और अपवर्ग सब कुछ प्रदान करते हैं।

भगवान सूर्य ब्रह्ममय, सर्वदवमय, सर्वजगन्मय और परम ज्योतिर्मय देवता हैं। ये अपनी दिव्य रश्मियों से संसार के समस्त लोगों का कल्याण सम्पादन करते हैं।

प्रकृत शोध प्रबन्ध में, "भगवान् आदित्य" स्थावरजङ्गमात्मक सम्पूर्ण विश्व की अन्तरात्मा हैं। आदित्य कालात्मा पुरुष हैं, बाह्य प्राण हैं। ये जगत् के प्रेरक भगवान् नारायण हैं। ये महान् आत्मा देव हैं। अग्नि वायु और आदित्य तेजोमय ज्योतिस्वरूप परमात्मा से निर्गत तीन ज्योतियॉ है। इन तीनों में आदित्य ही सर्वाधिक प्रकाशमान हैं। ये सर्वप्रेरक, सर्वप्रकाशक तथा सर्वप्रवर्तक होने से मित्र, वरुण और अग्नि के चक्षुःस्थानीय हैं "चष्टे इति चक्षुः"। यह सत्त्व प्रधान देव हैं। सूर्यदेव सर्वव्याधिविनाशक एवं सर्वविधकल्याणकारक हैं। आदित्य देव समस्त देवगत वैशिष्ट्योपेत हैं। इनका वर्णन एवं माहात्म्य न केवल वेद-वेदाङ्गादि तक सीमित है वरन् युनानी-हेलियस, मिस्र के 'रा', दक्षिण अमरीका के 'फुलेस' एवं उत्तरी अमरीका के 'ऐना' तक पहुँच चुका है। तथ्य यह है कि सब देवों के आराधन में कठिनता होती है किन्तु सूर्य का दर्शन कर सौविध्यपूर्वक ध्यान किया जा सकता है। भगवान् आदित्य सम्पूर्ण विश्व का प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से सर्वदा हित करते है।

■

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

क्रमसंख्या	नाम	वर्ष	लेखक/अनुवादक
1.	अथर्ववेद कालीन संस्कृति	1973	डॉ0 कपिल देव द्विवेदी
2.	अथर्ववेद सुभाषितावली	1996	डॉ0 कपिल देव द्विवेदी
3.	ऋग्वेद भाष्यभूमिका (आचार्य सायणभाष्य संहिता)	1972	डॉ0 हरिदत्त शास्त्री
4.	ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका	1966	महर्षि दयानन्द सरस्वती (आर्य समाज दिल्ली द्वादा प्र0)
5.	ऋग्वेद सुभाषितावली	2001	डॉ0 कपिल देव द्विवेदी
6.	वैदिक धर्म देव और देवियॉ (तृतीय व्याख्यान)	-	प्रोफेसर के0सी0 चट्टोपाध्याय
7.	भारत की संस्कृति साधना	1967	डॉ0 राम जी उपाध्याय
8.	यजुर्वेद सुभाषितावली	1994	डॉ0 कपिल देव द्विवेदी
9.	वेदों में भारतीय संस्कृति	1967	पं0 बलदेव उपाध्याय
10.	वैदिक साहित्य का इतिहास	1964	डॉ0 राजकिशोर सिंह
11.	वैदिक देवता उद्भव और विकास	-	डॉ0 गया चरण त्रिपाठी
12.	वैदिक साहित्य और संस्कृति	1967	पं0 बलदेव उपाध्याय
13.	वैदिक साहित्य और संस्कृति	1969	वाचस्पति गैरोला
14.	वैदिक माइथोलॉजी	1984	ए0ए0 मैक्डोनेल का राम कुमार राय द्वारा कृत अनुवाद
15.	हिन्दू सभ्यता	1958	डॉ0 राधा कुमुद मुकर्जी अनुवादक - डॉ0 वा0शरण अग्रवाल
16.	संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास		डॉ0 कपिल देव द्विवेदी
17.	भारतीय प्रज्ञा		मोनियर विलियम्स अनुवादक राम कुमार राय
18.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	1978	पं0 बलदेव उपाध्याय
19.	भारतीय संस्कृति की रुपरेखा	1969	पृथ्वी कुमार अग्रवाल
20.	संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियॉ	1969	डॉ0 जय किशन प्रसाद खण्डेलवाल

सङ्केताङ्क सूची

1.	अथ0	अथर्ववेद
2.	अहि0 सं0	अहिर्बुध्न्य संहिता
3.	आ0प0	आदि पर्व
4.	ऋग0	ऋग्वेद
5.	ऋक्0सं0	ऋक् संहिता
6.	ऐत0ब्रा0	ऐतरेय ब्राह्मण
7.	ऐत0उ0	ऐतरेय उपनिषद्
8.	कठ	कठोपनिषद्
9.	कौषी0ब्रा0	कौषीतकि ब्राह्मण
10.	गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
11.	कौषी0उप0	कौषीतकि उपनिषद्
12.	गो0उ0ता0उ0	गोपालोत्तरतापिनी उपनिषद्
13.	तैत्ति0उ0	तैत्तिरीय उपनिषद्
14.	तैत्ति0 आ0	तैत्तिरीय आरण्यक
15.	तैत्ति0 ब्रा0	तैत्तिरीय ब्राह्मण
16.	चा0उ0	चाक्षुषोपनिषद्
17.	छा0उ0	छान्दोग्य उपनिषद्
18.	नारा0उ0	नारायणोपनिषद्
19.	बृह0उ0	बृहदारण्यकोपनिषद्
20.	बृह0ब्र0सं0	बृहद् ब्रह्म संहिता
21.	मत्स्य पु0	मत्स्य पुराण
22.	महा0	महाभारत
23.	मुण्ड0उ0	मुण्डकोपनिषद्
24.	यजु0	यजुर्वेद
25.	यजु0 सं0	यजुर्वेद संहिता
26.	प्र0उप0	प्रश्नोपनिषद्
27.	श्वेता0 उ0	श्वेताश्वतर उपनिषद्
28.	साम0	सामवेद
29.	वाज0सं0	वाजसनेयि संहिता
30.	विव0	विवस्वान्
31.	बृह0	बृहद्देवता
32.	सूर्य0	सूर्योपनिषद्
33.	उ0 और वि0	उद्भव और विकास